लेखक की बीबी

लेखक—

श्री सरयूपण्डा गौड़

भूमिका लेखक—

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ एम० ए०, एल० टी०

(बेढब बनारसी)

प्रकाशक—

चौधरी एण्ड सन्स

पुस्तक विक्रेता तथा प्रकाशक

बनारस—१

मूल्य दो रुपया चार आना

समर्पण

सकल गुण गरिष्ठ, गुणी, गुण पारखी,
सहृदय सज्जन, विद्या व्यसनी
रूपपुराधीश ।

श्रीमान् महाराज कुमार, रायबहादुर
बा० शारदाप्रसाद सिंह जी साहेब ।

(श्री० बा० हीराजी साहेब)

के

करकमलों में सादर ससंभ्रम

समर्पित

सरकार !

अपने यंत्रणामय जीवन की जलती हुई घड़ियों तथा सिसकते हुए क्षणों में, आपके सदा सहास्य मुख एवम् परम पुलकित सहृदय की दया द्वारा, आपके इस कृपाश्रित भिक्षुक को जो कुछ भी हास्य और आनंद की छाया प्राप्त हुई, श्रीमान् के अयाचित दया दाक्षिण्य की सुप्राप्ति से जब-जब मेरा यह हाहाकारमय हृदय आनंद-विह्वल हो नाच उठा, उसीका परिणाम यह मेरी परम तुच्छ लघु पुस्तिका है । मैं जानता हूँ मेरी यह अति नगण्य सेवा आपसे सुयोग्य श्रीमान के योग्य कदापि नहीं, परन्तु मुझे श्रीमान के उस नन्हें से हृदय की अगाध विशालता, अपार उदारता ज्ञात है और मैं उस देव-दुर्लभ हृदय की सहज कृपालुता से ही लाभान्वित होने की लालसा से यह दुस्साहस करने में समर्थ हो सका हूँ ।

श्रीमान की कृपा पर मुझे विश्वास है और आशा है श्रीमान अपने इस कृपाश्रित भिखारी की कच्ची कलम की यह थोथी करतूत अवश्य अपना कर मुझे कृतज्ञ करेंगे ।—इत्यलम्

कृपाश्रित—श्रीमान् के ही प्रिय सम्बोधन में—

पंडा ।

एक क्षण

यह कहानियाँ हैं, और हास्य-रस की, जरा मुलाहिजा फरमाइये मेरे दुस्साहस की? एक तो कहानी लिखना ही कठिन काम है। फिर हास्य-रस की कहानी, और वह भी लिखी जावे मुझ जैसे अनाड़ी की कच्ची कलम से? मूढ़ मसक का मन्दराचल मसल डालने का उपहासास्पद विफल प्रयास! निरर्थक चेष्टा! न तो मैं कहानी लेखक ही हूँ, न कोई काबिल कला-कुमार। हाँ कुछ लिख मारने की अपनी इश्की, खुराफाती धुन में यह तूफाने-बदतमीजी बरपा कर रहा हूँ।

और मुझे आशा है, हमारी इस पुस्तक की सुन्दर (?) शब्द योजना, गुद्‌गुदाने वाले भाव-भाषाओं को ठूँस मारने की मेरी चेष्टा यदि आपको न हँसा सकी, तो इसके भोड़े भाव, बेतुके वाग्जाल जो इस पुस्तक की पंक्ति-पंक्ति में पिरोये मेरी मूर्खता और मेरी अनधिकार चेष्टा का डङ्का पीट-पीटकर अपना सिर धुन रहे हैं, वे आपको हँसाये वगैर न छोड़ेंगे।

हँसिये आप! चाहे हमारी बुद्धिमानी पर या नादानी पर? आपके होठों पर, जिसे इस द्वन्दमयी दुनियाँ ने अपने क्रूर निर्मम थप्पड़ों से मार-मारकर रेगिस्तान बना रखा है—कुछ काल भी हास्य की मृदुल मंजुल-रेखा अङ्कित हो गयी तो मेरा धन्य भाग! बस एकमात्र आपको, एक क्षण भी हँसा देने के लिये ही तो मैंने यह "भानमती का कुनबा जोड़ा है।"

इस तुच्छ पुस्तिका की भूमिका लिखने का घोर कष्ट उठाकर इसे गौरवान्वित करने वाले मेरे कृपालु प्रिय मित्र तथा हास्य-रस के माने परम सुयोग्य सुलेखक श्री भाई कृष्णदेव प्रसाद गौड़, जिनका सरस हृदय मानिन्द मक्खन के मुलायम—नाजनियों-सा नाजुक और कुसुमकोमल कुमारियों की कामनाओं-सा परम मधुर तथा तरल भावुक है—को हम दोनों हाथ उठाकर घोर "जय-जय-कार" करते हैं—"भाई मेरे दूधो नहाव ! पूतों फलो !" और इसके सिवा मेरे पास है ही क्या ! क्योंकि जब ब्रह्मा बाबा ने ब्राह्मणों को अपने ब्रह्मलोक से वसुन्धरा पर "डिस्पैच" किया तो उनके झोले में सिर्फ "जय जय-कार" का ही खजाना ठूँस मारा।

ब्राह्मण तो जन्म के ही भिक्षुक ठहरे और इस घोर कलिकाल में तो उनकी भिक्षुकता, छायावादी कवि-कुल कुमारों के असीम प्रीतम की निस्सीमता को भी परास्त कर चुकी है, अतः हम अपने उसी जन्मसिद्ध अधिकार के द्वारा अपने इस अक्षम्य अपराध, भयंकर दुस्साहस के प्रति आपके उदार-द्वार पर दया-दाक्षिण्य प्राप्ति की लालायित-लालसा से खड़े-खड़े चिल्ला रहे हैं—

"तेरा जीयेगा लाल बाबा, चम्मल भर-भर दे !"

अब आइन्दे मरजी आपकी !

आपका ही—भिक्षुक

सरयू पण्डा गौड़

भूमिका

रोना और हँसना मनुष्य का स्वभाव है, रोदन तो पशुओं में भी देखा गया है, मार पड़ने पर, मालिक के नाराज होने पर, विशेष शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट होने पर, पशुओं के नेत्रों से भी आँसुओं की धारा बहते हुए दीख पड़ी है। किन्तु अभी तक इस बात का पता नहीं लगा है कि जानवरों में हास्य का भी उद्भव होता है। यह मनुष्य की अपनी सम्पत्ति है। स्वस्थ मनुष्य के लिये हँसी अनिवार्य है। जो लोग हँसते नहीं वह अवश्य ही शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ हैं।

जिस प्रकार किसी को रुलाने के लिये अनेक साधन हैं, उसी प्रकार हँसने के लिये भी अनेक साधन हैं। फिर भी रुला देना सरल है, हँसाना कठिन। रोना और हँसना दोनों शरीर की क्रियाएँ नहीं हैं। इनका सम्बन्ध मन से है। कोई कलाकार यदि ऐसी कृति का निर्माण करना चाहता है जिससे मनुष्य के मुख पर हास्य का प्रदर्शन हो तो उसे अपने पाठक अथवा दर्शक के मन को ऐसी अवस्था में लाना पड़ता है जिससे हँसी आ जाय।

हसी की कहानी, व्यंग चित्र, हास्य की कविता सभी का ध्येय हँसाना होता है। इसलिये सभी में प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से मनुष्य की उस मनोवृत्ति को छूने का प्रयास किया जाता है जिसके द्वारा हँसी उत्पन्न होती है। यद्यपि उत्तम रचना वही मानी जाती

है जिसमें हास्य का मसाला परोक्षरूप से एकत्रित किया हो। यह किसप्रकार से हो सकता है यहाँ पर बताने का विषय नहीं है और प्रत्येक लेखक की अपनी अलग कला होती है। कोई अतिशयोक्ति से काम लेता है, कोई व्यंग का प्रहार करता है, कोई अवसर-विशेष से लाभ उठाता है, कोई भाषा की रचना ऐसो करता है जिसे पढ़ने से हँसी आजाय। और भी कई ढङ्ग से विनोद की सामग्री एकत्र हो सकती है। केवल भाषा के आधार पर जो विनोद पैदा किया जाता है वह ऊँची श्रेणी का नहीं होता। विशेषतः हिन्दी में हास्यरस के लेखकों की भाषा उतनी परिमार्जित नहीं है कि धाराप्रवाह श्लेष अथवा चमत्कारिणी भाषा का प्रयोग कर सकें। मार्क ट्वेन अथवा वुडहाउस की भाँति भाषा की खूबी के साथ हास्य की रचना करनेवाले हिन्दी में देखने में नहीं आते। हमने विवश होकर अँग्रेजी लेखकों के नाम लिये हैं। पर क्या करें? यह मानना ही पड़ेगा कि हमारे यहाँ हास्य लिखने की प्रथा बिलकुल नयी है। प्राचीन साहित्य में केवल नाटकों में विदूषक, हास्य की सामग्री प्रदर्शित करते हैं या रीति ग्रंथों में उदाहरण के रूप में कवि लोग हास्यरस की रचना करते हैं। हिन्दी में भी वही परिपाटी चली आयी है, और पुरानी हिन्दी की हास्यरस की कविता प्रायः भड़ौवा है।

यह अछूती जमीन देखकर हिन्दी लेखकों ने इधर धावा बोल दिया। कहीं कोई अकबर बन रहा है, कहीं कोई डिकेन्स बन रहा है, कोई मोलियर बन रहा है और कोई मार्क ट्वेन बन रहा है। कुछ हममें ऐसी कमजोरी आगयी है कि जबतक हम अपने को किसी विदेशी से तुलना न कर लें, तबतक हम अपने को हेय समझते हैं। कालिदास बेचारे को शेक्सपियर बनना पड़ा और बाल्मीकि को होमर बनाकर लोगों ने छोड़ा। बनने को तो लोग बन गये

परन्तु न तो किसी में मार्कट्वेन की रूह की छाया पड़ी, न तो मोलियर की महत्ता को कोई पा सका। 'वह भड़ से गिर पड़ा' 'सड़ से उड़ गया' कोई हास्य नहीं है। महफिल में भाँड़ हँसा दिया करते हैं परन्तु वह रुचि नीचे दर्जे की है और बालकों के लिये ठीक होती होगी। मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से हास्य लिखने में हिन्दी में कम लोग सफल हुए हैं।

उसका कारण यह है कि हास्य का पौधा वहीं पनपता है जहाँ का समाज मनोरञ्जन को बुरा नहीं समझता। कुछ आर्थिक कारणों से, कुछ धार्मिक कारणों से गम्भीरता का पल्ला भारतवर्ष में ऊँचा समझा जाता है। दिल खोलकर हँसना पाप नहीं तो अशिष्टता तो अवश्य है। छोटे बड़े के सम्मुख नहीं हँस सकते क्योंकि यह शिष्टाचार की सीमा को उल्लङ्घन करना है, बड़े छोटे के सामने नहीं हँस सकते क्योंकि यह एक अनुचित उदाहरण होगा। स्त्रियाँ और बलिकाओं के मुख पर तो १४४ धारा बड़े जोरों से लगी है। उनका हँसना तो सरासर निर्लज्जता है। जिस समाज में हास्य पर इतना प्रतिबन्ध हो वहाँ हँसी की रचना कैसे हो सकती है। आजकल तो लोगों की गरीबी हँसी को दबाये हुए है, पुराने समय में धार्मिक पीड़न और अत्याचार हँसी को रोके हुए थी। पश्चिम के निवासियों ने अपना जीवन ऐसा बना लिया है कि उन्हें सारे झंझटों के रहने पर भी मनोरञ्जन के लिये समय है। उनके क्लब में, होटल में, मित्रमण्डली में, हँसी की पर्याप्त सामग्री रहती है। खाने के बाद, हँसने वाली कहानियाँ कही जाती हैं। व्याख्यानों में विनोद लाने का चेष्टा की जाती है। बात चीत में विनोद का स्थान ऊँचा होता है।

हिन्दी साहित्य में अँग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने इस ओर उत्तेजना पैदा की है। बाबू बाल मुकुन्द गुप्त और पण्डित प्रताप

नारायण मिश्र के पहले, केवल भारतेन्दु बाबू ही ऐसे थे जिन्होंने इस ओर कुछ अधिक ध्यान दिया था। क्योंकि उनका जीवन सहृदय था। शुष्क कपाटवत् रहने वाले जिनके चेहरे पर मुरदनी की गम्भीरता छाई रहती है, वह हास्यरस की महत्ता को समझ सकते है। गुप्त जी और मिश्र जी ने बड़ी सुन्दर भाषा में लेख लिखे हैं। हास्य और विनोद की बड़ी अच्छी सामग्री उन्होंने हिन्दी में लिखी है। इनके पीछे कभी-कभी किसी ने फुटकर कविता लिख दी अथवा एकाध छोटा मोटा लेख लिख दिया। अकबर की रचनाओं ने हास्य और व्यंग की कविताओं की ओर लोगों को खींचा और मतवाला ने विशिष्ट रूप से इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। मतवाला के पहले, पण्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आरा से मासिक मनोरञ्जन निकाला था, उसमें भी हास्य रस की सामग्री रहती थी किन्तु गौणरूप से। फिर तो हिन्दू पंच, भॉड़, भूत, मौजी, खुदा की राह पर इत्यादि अनेक पत्र निकले और इधर लोगों की रुचि होने लगी। अब तो प्रायः पत्रों में इसके लिये एकाध कालम रहने लगे हैं—

कहानियों में तो इस ओर सबसे पहले गोंडा निवासी श्री गङ्गा प्रसाद श्रीवास्तव ने ही कलम उठाया था। उनकी लम्बी दाढ़ी सबको याद होगी। तब से अनेक हास्य-रस के लेखक हुए और होते चले जा रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी हास्यरस की कहानियों का संग्रह है। इसके लेखक पण्डित सरयू पण्डा गौड़ हैं। हास्य-रस के लेखक को जैसा होना चाहिये उसके सर्वथा अनुरूप पण्डा जी हैं। आप घर के अच्छे हैं और रोटी की चिन्ता से मुक्त हैं। हिन्दी लिखना केवल आपका शौक है, व्यवसाय नहीं। हमारे देश में जबतक लेखकों का उचित सम्मान न हो, और उनकी आर्थिक अवस्था ठीक न हो तबतक सम्पन्न लेखक ही कम से कम हास्य-रस

की उत्तम रचना कर सकते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि पण्डा जी सहृदय व्यक्ति हैं। एक साहित्यकार के लिये सहृदयता उतनी ही आवश्यक है जितनी मोटरकार के लिये पेट्रोल।

इस संग्रह में जितनी कहानियाँ हैं सभी अच्छी हैं, फिर भी मुझे जो पसन्द आयी हैं उनका उल्लेख मैं कर देना आवश्यक समझता हूँ। "आँखों की प्यास" बड़ी कलापूर्ण कहानी मुझे जँची। एक तनिक-सी बात को लेकर लेखक ने ऐसी कलम चलायी है कि पढ़कर जी प्रसन्न हो जाता है। "चोट" नाम की कहानी भी अच्छी उतरी है। 'होली की हजामत' गाँवों का वास्तविक चित्रण है जिसे विनोद के साँचे में ढाल दिया गया है। "दिल्लगी" नाम की कहानी भी बहुत अच्छी है। जरा एक जगह कुछ झिझक आती है। नहीं तो बड़ी अच्छी कल्पना की गयी है। पहली कहानी "लेखक की बीबी" हिन्दी लेखकों की आर्थिक अवस्था का बड़ा अच्छा व्यङ्ग चित्रण है। "कथा वाचक जी" में गाँव के कथक्कड़ों की खूब खबर ली गयी है। पढ़ने में लोगों को कुछ अतिशयोक्ति भले ही मालूम हो, परन्तु मैं जानता हूँ कि ऐसे मूर्ख कथा-वाचक अब भी देश में मौजूद हैं। "प्रणय-प्रतियोगिता" भी लेखक की अच्छी कहानियों में है। "दो सौन्दर्य पारखी" युवा जीवन के एक असंय्यम मनोवेग का सुन्दर हास्य-चित्रण है। "कविवर घोंचानन्द" टटके कवियों के कविता प्रेम और कलाकार बनने की मजेदार बेखुदी है। "पत्नी-प्रपञ्च" भी एक प्रकाण्ड त्रिया चरित्र है, जिसमें 'पति-पत्नि' में उभय पक्ष से कौशल द्वारा अपने-अपने कार्य सम्पन्न की चेष्टा हुई है, पर विजय, वैजयन्ती पत्नि देवी को ही सुप्राप्त हुई हैं। इस कहानी में एक अधीर उत्सुकता है—और गुद्‌गुदाने का सुन्दर मसाला है।

कहानियाँ प्रायः सभी अच्छी हैं और लोगों को रुचिकर भी अवश्य प्रतीत होंगी। पण्डा जी को किसी स्कूल या कालिज में

शिक्षा प्राप्त करने का अवसर न मिला, फिर भी आप में लिखने-पढ़ने का व्यसन है, प्रतिभा है। इसीलिये कृति में सफलता मिली है। जिस प्रकार से कुछ सुन्दरियों में एक स्वाभाविक भोलापन होता है, पाउडर, लिपस्टिक और 'हेयरवेव' का प्रयोग नहीं होता और वह दर्शकों के हृदय को जबरदस्ती खींच लेती है, उसी प्रकार पण्डा जी ने कला, आदि हास्य की विवेचना नहीं पढ़ी है। बगसों और क्रोचे से अनभिज्ञ हैं। केवल लिखना चाहिये और लिखने का नशा है, इसलिये लिखते गये हैं। परन्तु रचना में एक मिठास और एक आकर्षण है। भाषा में प्रवाह और भावों में जोर है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि हमारी बिरादरी में एक और आया।

इस पुस्तक में कुछ दोष भी हैं और उनका उल्लेख न करना उचित न होगा। पहला दोष यह है कि इस पुस्तक की भूमिका लिखाई गयी और उससे बड़ा और दूसरा दोष यह कि मुझसे। यदि भूमिका लिखाना ही था तो किसी दार्शनिक अथवा बड़े लेखक से लिखाना था जिसकी हिन्दी जगत् में तूती बोलती हो। मैं न तो वैज्ञानिक हूँ न विश्लेषणकर्ता। और पण्डा जी को इससे यह हानि हुई कि मित्र के नाते मैंने हाथ रोक कर लिखा है। उनकी रचनाओं के प्रति जितना न्याय होना चाहिये मैंने नहीं किया। इसका एक और महा-कारण यह उपस्थित हो गया कि उन्होंने मुझे खासा आर्डर दे रखा कि "देखो मेरी विरुदावली गायन में न उलझना।" इस भूमिका में यदि कुछ उटपटाङ्ग बातें आ गयी हों तो मेरा दोष नहीं है, पण्डा जी का, जिन्होंने मुझ जैसे व्यक्ति से इसे लिखवाया।

कृष्णदेव प्रसाद गौड़
एम० ए०, एल० टी०, विशारद
प्रधान मन्त्री-काशी नागरी-प्रचारणी सभा

तुलसी जयन्ती १६६३

१

लेखक की बीबी

"अन्धे, बहिरे, कोढ़ी, गूँगे, रोगी, कामी और दरिद्र यानी हर तरह से जो मजबूर से मजबूर हों, बिल्कुल निकम्मे और बेकार हों" 'बाबा तुलसीदास 'गोसोआमी' का फर्मान हम बीबी बननेवाली औरतों पर यह है कि—'ऐसे पतियों का भी अपमान करनेवाली पत्नीजीवी स्त्री यमपुर में एक नहीं नाना दुःख पाती हैं'—तो हमारे पृथ्वी के नर-तनधारी परमात्मा पतिदेव उन्हीं के शब्दों में—"बहुत बड़े आदमी हैं" और बड़प्पन के साथ ही घोर सुख्यात भी। यह दूसरी बात है, कि बड़े आदमियों की तरह न उनकी लाख दो लाख की तर-तहसील है, न उनके पास हवागाड़ियाँ अथवा घोड़ा गाड़ियाँ हैं, बल्कि उनके पास तो एक गधा गाड़ी तक नहीं है, स्टेट तो दूसरी चीज है। यदि उनके कुल छः हाथ के लम्बे-चौड़े महामहल में चुहियाँ सत्रह बार गश्त लगावें तो शायद उन्हें मटर-चने के छिलके तक नसीब न हों। मगर फिर भी वे बड़े आदमी हैं? तारीफ तो यही है। मैं यह बात 'गोसामी जी' की आज्ञावश, बीबी धरमपालन के नाते नहीं कहती, बल्कि स्वयं मैं अपने पञ्चतत्त्वाभिभूत भगवान पतिदेव ही के श्रीमुख से निकली हुई वाणी को दुहरा रही हूँ। आप बड़े फख्र से मुझे अपने वैराग्य-उपदेश

सुनाया करते—"दौलत बहुत बुरी चीज़ है, सत्पुरुषों ने सर्वथा इनका त्याग ही किया है, पवित्रता स्त्रियों का अलंकार पति-भक्ति है, न कि नाना उपद्रवकारी सोने या चाँदी के सेर दो सेर गहने ? महात्माजी ने भी इन्हें त्याग करना ही बताया है। फिर भी पैसा हाथ की मैल है, इसके लिये हाय-हाय फिजूल है। सत्य, दया और निष्काम प्रेम ही संसार के सर्वोपरि सुख और आनन्द हैं, सत्कीर्ति ही जीवन है, आदि आदि।" मगर मेरे इन सप्राणपति परमेश्वर के निकट धोबिन, भंगिन और कहारिन जब रोती बिलखती, अपने दुखड़े गातीं, तलब माँगने आया करतीं, तो मेरे ये देवता संसार के सर्वोपरि सुख भोग, सत्य, दया और निष्काम प्रेम की सुधि भूल जाते थे। जहाँ कहारिन ने हाँक लगाई की आप तीन क़दम में दरवाजे के पार पहुँच, मुझसे कहते—"कह दो, मालिक घर में नहीं हैं"। बीबी होकर उनका अपमान कैसे करती, पर डरती-डरती इतना जरूर कहती कि "हफ्तों से तो मालिक बाहर हैं"। सुनते-सुनते बिचारी के कान पक गये होंगे" पर मेरे देवता तो उस समय अपने संरक्षण-दुर्ग पाखाने के हवाले होते, मेरी सुने कौन ?

हाथ की मैल, नाना उपद्रवकारिणी मुद्रा या दौलत के लिये मेरे प्राणनाथ रोज ही अपने संसार के सर्वोपरि सुख-सत्य, दया और निष्काम प्रेम के सर गिन-गिन कर जूते लगाते, इनकी कपाल-क्रिया करते।

मेरे जीवनधन लेखक थे, जैसे व्यास, बाल्मीकि, कालीदास, भवभूति, शेक्सपियर, रेनाल्ड, टालस्टाय इत्यादि। वे नित्य ही अपनी लौह-लेखनी की नोंक से, फुल्स्केप के तख्तों पर काली स्याहियों के राजतिलक लगा, लाखों पथ-भिक्षुओं को एकछत्र सम्राट बनाकर बिठाते थे, मगर खुद अपने लिये—चार हाथ जमीन के भी सम्राट नहीं बन सके—! सुना है, शिव जी वृक्ष की छाया में रहते हैं, आप भंग, धतूरे खाते हैं, परन्तु दूसरों को बड़े-बड़े महल देते हैं और

छत्तीसों व्यञ्जन खिलाते हैं। मेरे लेखक नाथ, शायद इन्हीं भगवान भूतनाथ के संसारी संस्करण थे।

सोचते बहुत थे, मगर करते कुछ नहीं थे। कल्पनाओं में उन्हें जितनी आनंदानुभूति होती थी, व्यवहारिकता में उससे सौ गुने घबड़ाते थे। जब देखो आँखें आकाश में टँगी हैं, मुखड़ा माघ के मेघ की तरह गंभीर है, कान श्वान की भाँति सजग हैं, मानों स्वर्ग से कोई सूचना बेतार के तार से आपके पास आ रही हो। सुना करती हूँ, ४० करोड़ मुसलमानों के नबी हजरत मुहम्मद साहेब के समीप भी मेरे प्राणनाथ की ही भाँति, बिहिश्त से पैगामात आया करते थे, मगर उन्होंने तो कुछ किया भी, बेचारे ने आठ-आठ बीबीयों की परवरिश बड़ी खूबी और शान से की, मगर हमारे हृदयेश्वर....? न कहलाइये, यहाँ तो जल ही रही हूँ, भला यमदेव के घर भी तो सुख से बस सकूँ।

मैंने डरते-डरते, बातों में, इशारे से एक दिन कहा भी—यों रात रातभर जगकर डंड और मुण्ड की नसीहत बेमतलब करने से क्या फायदा? यदि मुक्ति और मोक्ष ही सरकार के जीवन का चरम लक्ष्य है, तो जब तक भली तरह आँखें न मुँद जायँ—हरिभजन में रत रहना ही क्या बुरा है इस मुफ्त की मजदूरी से?

मेरे प्राणपति को कोई "थॉट" (विचार) मिल गया था। उसे ही वे अपने मस्तिष्क के महा-कोषागार से, अपनी लेखनी द्वारा चाँद खुरच-खुरच कर कागज के पन्नों पर लाना चाहते थे। इससे उनका बड़ा नाम हो जाता—! बड़ा नाम हो जाता के मानी यह नहीं, कि उनका जन्मजात नाम, जो कुल ढाई अक्षरों में समाप्त है—बढ़कर शैतान की आँत की तरह हो जाता। बड़ा नाम हो जाने के माने यह कि, उनका नाम चारों ओर हवा की तरह फैल जाता।

मैं समझती हूँ, आप इतना "बड़ा नाम" सुनने के लिये अवश्य

उत्सुक तथा लालायित होंगे। मगर मैं तो उनकी बीबी हूँ, मैं उनका नाम कैसे लूँ। कई वर्जित नामों के न लेने में उनका भी नाम शामिल है। मगर मेरे प्राणनाथ के नाम का उपयोग प्रायः लोग किसी की मूर्खता करने पर करते हैं। लिखा जाए तो—"ब" में ह्रस्व ऊकार और "द" तथा "ध" संयुक्त और दीर्घ ऊकार। इसमें उन्होंने लेखक होने के बाद "प्रसाद" भी जोड़ लिया है। बस !

सच पूछिये, तो मुझे उनका नाम सख्त नापसन्द है। मैंने कहा भी था, जब कि आजकल नाक और दाँत भी अनुपयुक्त होने पर चिरवा तुड़वा डाले जाते हैं, तो मुए नाम के आपरेशन कराने में क्या दिक्कत ? या इन्हें रद्दोबदल करने में क्या तकलीफ है, जब कि औपन्यासिकों के सम्राट् ने ऐसा उत्तमोत्तम एवं परम सुन्दर आदर्श उपस्थित कर रास्ता साफ ही कर दिया है। मगर उन्होंने मेरी बात पर ख्याल न फरमाया, क्योंकि गोस्वामी जी ने ढोल, गँवार और शूद्र में मेरी भी गणना की है। एक गवांरिन 'नार' की बातों का ख्याल, वे 'लेखक' जैसी लम्बी लक़ब से सुशोभित होकर—करने की मूढ़ता कैसे करते ?

हाँ, तो घण्टों की प्रतीक्षा के बाद हम पत्नियों के नारायण मेरी ओर मुखातिब हुये और बोले—'हरिभजन' और 'लेखन' दोनों एक ही चीज हैं, बल्कि कुछ बढ़कर ही 'लेखन को समझो। क्योंकि हरि-भजन तो किसी एक प्राणी विशेष को बैकुण्ठ देता है, पर यह 'लेखन' अनेकों नर-नारी को सुख और शान्ति प्रदान करता है। सुख और शान्ति ही तो बैकुण्ठ है। नहीं तो बैकुण्ठ में क्या सितारों का शोरबा, चाँदकी चटनी और सूरज का मुरब्बा थोड़े ही बना मिलता है ?

मैं सविनय बोली—"दैव न करें, इन देवताओं के भक्षण का दुर्भाग्य हो ! यदि हमी इन्हें खा जाएँ, तो बिचारे 'राहु' 'केतु' भूखों टापते ही रह जाएँ ! यदि बैकुण्ठ में ये चीजें धर्मात्माओं को खिलाई

जातीं, तो मैं पहली स्त्री होती, जो बैकुण्ठ के विरुद्ध 'प्रोपेगण्डा' करती।"

स्वामी बोले—वहाँ नथिया और झुलनी भी नहीं मिलती।

मैं—न मिले, शान्ति और सुख तो मिलेगा? बस शान्ति और सुख में नथिया और झुलनी भी आ जाती है।

वे, मेरी शान्ति और सुख की ऐसी परिभाषा सुनकर कुछ घबराये से बोले—नथिया और झुलनी को शान्ति से क्या सरोकार?

मैं बोली—यदि कोई बैकुण्ठाधिकारी नथिया या झुलनी के ही धारण करने में शान्ति और सुख का अनुभव करता हो, तो क्या शान्ति और सुख के दाता बैकुण्ठाधिकारी लोग उसे नथिया और झुलनी का प्रबन्ध नहीं कर देंगे?

मेरे पतिदेव ठहाके मारकर बोले—हा हा हा हा हा! खूब! खूब!! तुमने अच्छा दावा पेश किया, पर तुम्हारा यह दावा वहाँ खारिज हो जायेगा, क्योंकि स्वर्ण में पाप बसता है, बैकुण्ठाधिकारी अपने भक्त को 'पापी' कदापि न बनने देंगे।

मैं—जैसे आप मुझे नहीं बनने देते?

वे सहर्ष बोले—हाँ—! हाँ!! आखिर समझी तो?

मैं—तो बस कीजिये, समझ गई, बैकुण्ठ के मालिकान भी आपही की तरह लेखक हैं, गोया मुझ लेखक की बीबी को स्वर्ग या पृथ्वी में कहीं भी लेखकों से पिण्ड न छूटेगा, मैं बराबर कल्पना के सम्राटों की ही सेवा का शिकार बनती रहूँगी।

स्वामी बोले—हाँ, तुम जानती नहीं हो, ईश्वर का एक नाम ही 'कवि' है, जो लेखकों से भी गहन काल्पनिक है। तुम्हें मालूम नहीं, कल्पनाओं पर ही तो सारे सुख-दुःख आश्रित हैं, कल्पना एक अनन्त आनन्ददायी चिर सुख है, जो कभी विनष्ट नहीं होता।

सहसा दरवाजे से आवाज आई—"मालिक बाबूजी! मैं हाजिर

हूँ, आज ही का वादा था, मेरा बेटा बुधुआ बड़ा बीमार है, आज पैसे दो सरकार।

इस व्यावहारिक संसार के स्वल्पाघात ने मेरे नारायण को उनके चिरानन्त सुख-शान्तिमय कल्पनालोक से अति शीघ्र "पैखाना लोक" में ला गिराया और मुझे "लेखक की बीबी" होने के नाते भाड़े के गवाह की तरह गंगा उठानी पड़ी—"मालिक बाहर हैं"।

वह, खेती-झींकती, बड़बड़ाती चली गई, मेरे नामवर पति परमेश्वर 'पैखाना लोक' से निकल कर बाहर आये और पुनः 'कल्पना लोक' के सर्वोपरि सुख, सत्य, दया और निष्काम प्रेम के आनन्द लूटने लगे।

एक पतिव्रतधारिणी स्त्री होने के नाते, इससे अधिक मैं अपने लेखकनाथ के गुणानुवाद गाने में कहाँ तक समर्थ हो सकती हूँ, मगर मैं यह जरूर कहूँगी कि चोर, गिरहकट, एक्केवान, भट्टीवान की बीबी होना कहीं सौभाग्य है, इन कल्पना लोक के वासी कलम बहादुर 'लेखक की बीबी' बनने के दुर्भाग्य से।

२

कथा-वाचक जी

बात कोई ज्यादा दिन की नहीं है। १६२८ के जाड़ों में एक कथा-वाचक जी महाराज घूमते-फिरते मेरे नगर में आ धमके। ग्राम के कुछ भक्तों ने उन्हें दुर्गादेवी के मन्दिर के पास कथा बाँचने के लिये बिठा दिया। पण्डित जी थे पुराने कथक्कड़ और बोलते भी खूब

सर्राटे से थे। चाहे उनकी उक्तियों और कथनों में कुछ दम अथवा तथ्य हो या न हो, पर इसकी परवाह श्री पण्डित जी महाराज नहीं करते थे। अहमद की पगड़ी महम्मद के सर पड़ी, या महम्मद की पगड़ी अहमद के सर, इसकी कुछ भी चिन्ता उन्हें न थी। वे अपनी ओटे चले जाते। और करते भी क्या, ओटने के लिये ही तो बेचारे दो-दो चौकियों पर बैठा करते थे।

कहावत है "भेष ही से भिक्षा मिलती है" सो पंडित जी का वेष-विन्यास भी खूब था। माथे पर तिर्हुतिया "नाइट कैप" नुमा पगड़ी रखते, शरीर में बन्ददार कुर्ता, उसपर "एबा" पहरते, आँखों में सुर्मा लगाते, ललाट पर १११ का छाप छापते और तुलसी की मोटी माला धारण करते, जिसे वे "हीरा" कहा करते थे। जिस समय अपने इतने साजो-सामान से लैस हो अपनी नगाड़े सी तोंद सँभालते वे चौकी पर थप्प से थौंस जाते, उस समय उस हस्ती-काया के महाभार से चौकी बेचारी बड़ी दीन भाषा में चिल्ला पड़ती—"चर्र—चररर।" कथा-वाचक जी की वेषभूषा, उनके हाव भाव, साक्षात् क्षमा की मूर्ति, धर्म की प्रतिमा और सौजन्य की सीढ़ी-सी ही जान पड़ती। उनके, एक पर एक लदे सूर्पदन्त जब सकरुण हो उनके ओष्ठ-कोष्ठ के प्राचीर पार कर, श्रोता समूह की ओर परम निरीह भाव से झाँका करते, तब ऐसी करुण सरलता इस "दंतविदोरी" से चू पड़ती कि बस देखते ही बनता। व्यासगद्दी पर शोभायमान होते ही श्री कथावाचक जी महाराज पार्श्व-वर्ती "नासदानी" से सत्रह चुटकी नस नाक में सुड़कते, और कुर्ते की जेब में पड़े ब्रह्मा के चतुर्मुख से प्रशंसित "तमाल पत्रम् परमम् पवित्रम् का एक डबल फंकी अपनी कन्दरा में डाल, एक कुल्ला थूक श्रोता समाज पर और सत्रह तीया (१७ × ३ = ५१) इक्यावन "आकछीं" बाबा व्यासदेव की पोथी और श्री वृन्द्राबन बिहारीलाल पर छोड़कर अभ्यर्थना करते। फिर अङ्गुष्ठ एवं अनामिका द्वारा नासिका-छिद्रों को

बन्दकर छींक रोकते अथवा इस अपकार का प्रतिकार करते, या "हे भगवान आज आरती में प्रचुर पैसे भेजो" गुहराते, यह तो जानें वे और उनके ठाकुर बाबा। फिर कुम्भकर्णी नाद से बोलो-बोलो श्री वृन्द्राबन बिहारीलाल की जय !" चिल्लाकर अपने कथा प्रारम्भ का विज्ञापन करते और भक्त समाज भी इस विकट चीत्कार में योगदान दे, बैकुंठ को हिला मारता। फिर दनादन पुष्पों की बृष्टि, बताशे की वर्षा व्यास गद्दी पर होने लगती। पुष्पमालाओं के महाभार पंडित जी जेल से छूटे टटके सत्याग्रही की भाँति लद जाते। फिर लम्बी चुटियावाले, राम फटाका और कण्ठी मालाधारी अपने कान पकड़-पकड़ कर ताबड़-तोड़ दंड पेलने लगते, मानो यमदेव से मोर्चे लेने के लिये वे बल पराक्रम अर्जित कर रहे हों। फिर पंडित जी महाराज अपने धुधुक नाद से रामायण की चौपाई—क्योंकि पण्डित जी के सरल सुबोध हृदय में संस्कृत सी टेढ़ी-मेढ़ी और उभड़ खाभड़ भाषा न उतर सकी—पढ़ने लगते।

एक दिन पंडित जी ने अपनी कथा इसप्रकार प्रारम्भ की—

"सुनो भाइयों ! कल्ह का काथा तो आप लोग सरवन कर आनन्द होते ही भये हैं, रामकृपा ते काल्ह से आज का कथा और ललित एवंग सीछाप्रद है, जिसे सरवन करने मात्रसे सीघ्र भवसागर पार लग जाएगा। सुनिये, सरोतावृन्दों, सिरी महाराज बाबा गऊसुआमी तुलसीदासजी, इन सुद्दरों और बराभनों में कितना अन्तर श्री राम कृपा ते बतावते भये हैं—

"पूजिए ब्राभन वेद विहीना। सुद्दर न पूजिए चतुर प्रवीना॥"

देखो, सुद्दर चाहे कितना हू पंडित चतुर परवीन हो जाए उसे कभी न पूजिए, और सिरी रामकृपा ते ब्राभन चाहे कैसाहू मूरख से मूरख क्यों न हो, बस देखते ही फौरन माथ उसके पाँव पर पटक दीजिए। आजकल जो कुछ अरियासमाजी अउर गान्हीं (म० गाँधी)

के "नन परेसान" (ननकोऑपरेशन) लोग जो अधरम का अवतार लेकर जनमें हैं, उअह कहते हैं कि सुद्दरों को आपुस में मिला लो, उनको देवमन्दिर मे जाने दो, पोखरे कुवें पर असनान करने दो। कहिये महाराज इस कुकरम का कोई पारावार है। भाइयो, सच बात तो यह है कि सब अरिया सुद्दर हैं, और सब "नन परेसान" वाले रँगरेजी दाँ। अजी इन रँगरेजी पढ़नेवालों की भी कोई जाति पाँति है ? न इनसे माँस मद्य बचा, न इनसे मेंम छूटो, जूते पहिरे गबर-गबर खाने लगते हैं। जिनको "सब धान बाइस पसेरी" ही सूझता है; जो मेहतर को रसोइयाँदार और चमार को "पनभरवा" (पानी भरनेवाला) रखते हैं, वे तो कहबे करेंगे कि सब मिल जाव। मगर भाइयो आपका वेद-पुरान, रामायन कोई साहत्तर (शास्त्र) सुद्दरों से खान पान की तो क्या, उनकी छाया में जाने को भी अगेआ (आज्ञा) नहीं देता। देखिए कहते हैं—

* चौपाई *

हाथिन पाँए ते जाहु जताई। सुद्दर घर मत जाहु ए भाई॥
बलु अगिनी में जरो तत्काला। सुद्दर घर जनिजाहु भुआला॥
सुद्दर संग जो भोजन करहीं। रौ-रौ नरक कोटि युग परहीं॥
सुद्दर सन जो देह छुलावै। सूकर होइ कष्ट बहु पावै॥
भूलिहुँ जो इनके घर जाहीं। तिनकर अघ छुटत हैं नाहीं॥

* दोहा *

अस विचारि करि बन्धु वर, तजहु मोह अज्ञान।
सुदरन सन सहयोग करि, होइहें नहिं कलियान॥

बोलो भाई रामचन्द्र की जय !"

ब्यासगद्दी के समीप ही बैठे हुए भक्तश्रेष्ठ रामरीझन पाँड़े का सारा मुख-मण्डल जातीय गर्व से ओजपूर्ण हो गया। शूद्रों पर पण्डित जी कृत टिप्पणी उन्हें चोखी और अनोखी जँची। वह बारम्बार पण्डित

जी को चौकी पर मूड़ पटकने लगे तथा कथा-वाचक जी को शत सहस्त्र धन्यवाद देते हुए खड़े होकर दोनों हाथ ऊपर उठा के बड़े गद्गद् कण्ठ से बोले—"अहाः हाः हाः! महाराज धन्न हैं आप! आज आपकी अमरीतमई वाँड़ी (वाणी) से बराभन समाज कीरित-कीरित (कृत्य-कृत्य) हो गया। क्यों नहीं, यदि आप जइसे धरम उपदेशक धरम रक्छक (रक्षक) देश में उत्पन्न हो जाएँ तो धरम की विपदा गरस्त (ग्रस्त) नैया कभी महाभँवर से पार हो जाए। बोलो-बोलो—भाइयो प्रेम से श्री पण्डित जी महराज की जय! महा जय!"

कथा-वाचक जी का पारा अब और सातवें आस्मान पर चढ़ गया। वे अपनी विद्वत्ता गुणज्ञता पर आप मुग्ध हो गये, और पुनः बड़े गम्भीर भाव से बोले—"सज्जनो! साहतर कहता है, पूरन ब्रम्भ परमातमा के औतार सिरी कृश्नचन भगवान सुद्दर दुरजोधन के घर का मेवा मिसरी, हलुआ पुड़ी तेआग (त्याग) कर, बराभन विदुर के घर साग सत्तू खाते भये थे। अजी जब परमातमा इन सुद्दरों के घर का अन जल गरहन (ग्रहण) नहीं करता तो फिर तेरे और मेरे की क्या बूत? इस हेतु हे पियारे बन्हुओं (बन्धुओं) सुद्दरों से सहयोग कभी कैलानकारी (कल्याणकारी) न होगा। गोसाई जी राम कृपा तें कहते हैं—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी॥

ए सूद्र लात जूता के मानुख्य (मनुष्य) हैं, इनसे बराबरी का बेओहार (व्यवहार) करना धरम-विरुध है। बोलिये राजा रामचनर की जै?" भक्त भोंच रामरीभन पाँड़े ने सर्वप्रथम ही अपनी विकट गर्जना से इस "जय" में योगदान दे स्वर्ग का रास्ता साफ कर लिया।

सहसा इसी समय एक श्रोता खड़ा होकर पण्डित जी से पूछ बैठा—"महाराज ढिठाई क्षमा हो। मैं कुछ शङ्का-समाधान कराना चाहता हूँ। भला यह तो बताइये किस शास्त्र में दुर्योधन को शूद्र और

विदुर को ब्राह्मण लिखा है। महर्षि व्यास प्रणीत "महाभारत" में तो साफ-साफ शब्दों में लिखा है, दुर्योधन कुरुवंशीय क्षत्रिय, पाण्डवों का सगा चचेरा भाई, और भगवान कृष्ण के बड़े बन्धु बलभद्र जी का शिष्य था। हाँ बल्कि विदुर को ही शूद्र होना लिखा है, क्योंकि वे दासी पुत्र थे।"

बाप रे! पण्डित जी के सर पर यह अचानक प्रश्न-पहाड़ कहाँ से घहरा पड़ा। महाभारत किस चिड़िए का नाम है, इसे तो आजतक उन्होंने स्वप्न में भी न सुन पाया था। २० वर्ष की अवस्था में अपने पिता श्री० के डण्डों की सुकृपा से यही टो-टोकर रामायण पढ़नी उन्होंने सीखी थी, माँगने खाने भर की यह अच्छी विद्या थी। हाय!! यह दुष्ट, दानव की भाँति कहाँ से कूद पड़ा। अब इस भरे समाज में इसका उत्तर न देना अपनी छिपी मूर्खता को प्रकाशित करना है। पण्डित जी सर खुजलाते हुए बोले—"तुम कौन हो भाई?"

प्रश्नकर्त्ता—"मैं श्रीमान् का दास, दो हाथ पैर वाला ईश्वरीय पुतला हूँ।"

पण्डित जी—"अजी सो केआ (क्या) मैं नहीं देखता हूँ। मेरे पूछने का मतलब यह है कि तुम कौन जाति के हो।"

प्रश्नकर्त्ता—"मनुष्य जाति के।"

पण्डित जी—"अरे मानुख्य (मनुष्य) जाति के तो सब ही हैं, तुम्हारी खास जाति, क्या है?"

प्रश्नकर्त्ता—"विदुर की जाति।"

"अरे बाप रे! इसने तो प्रश्न को और भी विकट कर दिया।" विदुर की जात? तो क्या विदुर ब्राह्मण न था? न हो पर मैं तो उसे ब्राह्मण बता चुका हूँ। साला बड़ा चतुर मालूम होता है। शूद्र कहता तो हल्ला मचाकर भगा भी देता। हाय-हाय!! सुसुर विदुर-फिदुर को मैंने "जान न पहचान, खाला बुआ सलाम" की भाँति व्यर्थ ही क्यों घसीट मारा?

शैतान विदुर जब सुद्दर था तो उसने महाभारत में जन्म ही क्यों लिया ? बुरा हो महाभारत बनानेवाले की, आफत खड़ी कर दी। प्रश्नकर्त्ता पण्डित जी को चुप्पी साधे देख फिर बोला—"महाराज दास प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा में है।"

पण्डित जी घबराये-से बोले—प्रेतेच्छा (प्रतीक्षा) केश्रा (क्या) भाई ! तुम परेत (प्रेत) तो नहीं ? (इसी समय शिक्षित श्रेणी ठठाकर हँस पड़ी।) प्रश्नकर्त्ता बोला—अपनी शङ्का के जवाव की बाट जोह रहा हूँ।

पण्डित जी अब क्या करें, मुश्किल पर मुश्किल, यह तो इस टालम-टूल से हटने का नहीं, ससुर पक्का ब्रह्मपिशाच मालूम पड़ता है। अब तो "गले पड़ी ढोलकी बजाए सिद्ध"। लाचार कथावाचक जी बोले—"सुनो भाई, दुर-दुर-जोधन को रजपूत और विदुर को सुद्दर बताना सरासर मूरखता है, यह सब अण्ड-बण्ड बातें अरिया-समाजी ठूसे हैं, जइसे अउर-अउर पोथियों में अपने मत की बात ठूसठाँस किये हैं।"

इतने में रामरीझन पाँड़े झट् बोल उठे—"वाह वा ! केश्रा (क्या) मकूल (माकूल) जबाब है, सचमुच यह फरसाद (फ़साद) आरिश्रों का ही है।"

प्रश्नकर्त्ता ने फिर कहा—"अच्छा रामायण जी में भी आर्यसमाजी कुछ ठूसे हैं ?"

पण्डित जी को अपने रामायण ज्ञान पर बड़ी दृढ़ता थी, बल्कि वे सातो काण्ड के रचयिता स्वयं अपने ही को समझते थे, अतएव कड़क कर साधिकार बोले—"नहीं जी किसकी महतारी पिल्ली बिश्राई है जो वह सिरी रामायनजी में कुछ ठूँस-ठास कर दे ?"

प्रश्नकर्त्ता-हर्षित हो बोले—"भली कही महाराज, भला यह तो

कहिए शिवरी शूद्रा थी या ब्राह्मणी, जिसकी जूठी बेर आपके ईश्वरावतार भगवान राम ने सराह-सराह कर खाई थी।"

अरे बाप आदमी है कि यमदूत? अब इसका क्या जवाब दूँ (ठहर कर)—"शवरी भिलनी थी।"

प्रश्नकर्त्ता—"भील कौन जाति के हैं, क्षत्री या ब्राह्मण?"

पण्डित जी—"एक तरह से क्षत्री भी हो सकता है।"

प्रश्नकर्त्ता—"और दूसरी तरह से?"

पण्डित जी प्रश्न पर प्रश्न के बाणों से एकदम व्याकुल हो गये। उनकी दृढ़ता घोर उद्विग्नता के रूप में परिणत हो गई और वे बिल्कुल गूँगे बन गये। उन्हें मौन देखकर प्रश्नकर्त्ता बड़े विनीत एवं मृदु स्वरों में बोला—"देवता आप इस देश की श्रेष्ठ सम्पत्ति हैं, आप ही के पूर्वजों ने इस देश की रक्षा में अपने को होम कर दिया है। आप धर्मोद्धारक, समाज सुधारक हैं, आप इस देश के नायक, नेता, और देवता हैं, आप में ऐसी संकीर्णता न आनी चाहिए। शूद्र भी आप ही के सेवक हैं, उनके साथ आप न खाइए, बेटा-बेटी न व्याहिए, कम-से-कम उनके साथ मनुष्य का-सा तो व्यवहार कीजिए। आप ब्राह्मण हैं—रामायण जी ही में लिखा है "चहिए विप्र उर कृपा घनेरी" आप दया कीजिए समाज के सेवक इन शूद्रों पर। आप पिता हैं, इनके मलों को धो डालिए, काटकर फेंकिए मत। संसार में कर्म ही प्रधान है महाराज, रामायण भी यही कहती है "कर्म प्रधान विश्व करि राखा" बाल्मीक, नारद, अगस्त सब निम्न श्रेणी के होते हुए भी अपने सुकर्मों से महर्षि हो गये और रावण ऋषि पुलस्त के विमल कुल में जन्म धारण करके भी अपने कुकर्मों के कारण राक्षस और नीच ही बना रहा। आप तो स्वयं विद्वान हैं विचारिए, और दास की प्रार्थना है, ऐसी शिक्षा उपदेश न दीजिए जिससे देश रसातल को चला जाय।"

प्रश्नकर्ता की एक-एक बातें स्वर्णाक्षरों में लिखी जाने योग्य और शास्त्रों की चोखी उक्तियाँ थीं, परन्तु वज्रमूर्ख पंडित को इसमें अपनी भयंकर मानहानि, तथा अपमानजनक पराजय सूझ पड़ी। उनकी बेचैनी अब गुस्से में बदल गई, और वे ललकारते हुए बोले—"सरोताओं! धिरकार है हम सबों को, इतने सनातन धरमियों के रहते हुए बेआस (व्यास) गादी पर बैठे एक पंडित, कथावाचक को न जाने यह कहाँ का सूद्दर बेइजत कर कर रहा है, और तुम लोगों से कुछ नहीं होता है। डूब मरो, अपने धरम की शिकाईत सुनकर भी इस पामर को कच्चे चबा नहीं डालते। तुम्भ लोगन से पार नहीं लगता लो कायर लोगों, हम परतीगेआँ (प्रतिज्ञा) करते हैं, जबतक तुम सबलोग अपने नगर के सूद्दरों से उनके मदतगारों से बिलकुले नाता न तोड़ लोगे, तब तक हम भगवान की शपथ खाकर कहते हैं, कदापि अन्न जल गरहन नहीं करेंगे।"

पंडितजी औंधे मुँह व्यासगद्दी पर पड़ गये, और लगे पुक्का फाड़-फाड़कर रोने-चिल्लाने—"कहाँ हो हे परेभो! दउड़ो दउड़ो!! इन कायर कपूतों से कुछ ना होगा। इअह जानते—"हरिहर निन्दा सुनहिं जो काना। होहिं पाप गउ घात समाना॥"—काटिए जीभ जो हो मनुसाई।" हे भगवान तुमको सूद्दरों का अन जल भछन करने वाला, कहने वाले को ये भेंड़ बकरे कुछ नहीं कर सकते। इस कारण हे दीनवन्हु तुम खुद सुदरसन चक्कर लेकर दउड़ो। हाय-हाय धरम के गले पर भोथरी छुरी घूम रही है, अउर यह इतने लोग मूरत की तरह खड़े २ बकर बकर मुँह ताक रहे हैं, हम अकेले केआ करें परमेसवर!"

श्री० कथावाचकजी की यह आर्तपुकार खाली न गई, कुछ भक्तों के हृदय में उनके भगवान उतर आये। रामरीझन पाँड़े ने दौड़कर सुदर्शन चक्र की एवज में घड़ी-घंट उठा लिया घरफोरन भगत ने गदा के बदले में चटापट एक चौकी का पावा तोड़ लिया, फिर तो उस

बेचारे प्रश्नकर्ता—"शूद्र" पत्र के सम्पादक पर इतनी मार पड़ी की वह बेहोश होकर गिर पड़ा। दूसरे दिन सारे नगर में भयानक हाहाकार मच गया। शूद्र परिवार पानी-पानी और दाने-दाने को तड़पने लगे। हाट-बाट, कुआँ, पोखर, यहाँ तक कि पायखाना-पेशाब के भी रास्ते बन्द कर दिये गये। इक्के-दुक्के जहाँ भी बिचारे लुके-छिपे शूद्र मिलते, बैकुण्ठाधिकारी, कथावाचकजी के अमूल्योपदेश का भति भाँति पालन करते। शूद्र सन्तान के आर्तनाद से आकाश आर्द्र हो गया। अन्ततः इस राक्षसी अत्याचारों से तंग आकर कई आहत शूद्रों को लेकर "शूद्र सम्पादक" सरकार की शरण में गये।

तीसरे दिन ब्यासपुत्र शुकदेव मूर्ति ,वैशम्पायन स्वरूप कथा-वाचकजी महाराज सदल बल गिरफ्तार हुए। दिनभर कड़ी धूप में बैठे रहे, दाना पानी मुहाल हो गया। पेटरूपी भरसाँय में भूख के चूहे चौकड़ियाँ लगाने लगे। मारे प्यास के कंठ सूख रहा था, और मुँह लटक गया था, तिसपर बिचारे पंडितजी की अति सुकुमारतापूर्वक, दूध मलाई खिलाकर पाली हुई तोंद, कई बार पुलिसों के डंडे और घूसों से हुरपेट दी गई थी, और उसमें दर्द जारी था। कई कोड़ियाँ गालियाँ खाकर पंडितजी का मान भी मरम्मत हो चुका था। फिर एक बिपदा और आई। मुकदमे की जाँच कल भी होगी, और बलवाइयों को छोड़ने से फिर यह बलवा कर देंगे, इसलिए शहर कोतवाल ने सदल बल कथावाचक जी को हवालात में बन्द कर दिया। सम्पादक शूद्र को भी ग्राम-प्रवेश से वर्जित कर बाहर ही वाराण्डे में सो रहने का आर्डर दे दिया।

रात बहुत बीत गई थी। कल भी पंडित को दिवानिशी "तेरहो दण्ड एकादशी" ही बीती थी, और आज प्रातःकाल से यहीं पकड़ कर आये थे। क्षुधा पीड़ा से उनके उस कुण्डोदर में चीन जापान का युद्ध छिड़ गया। इनके साथी तो दीवारों में उठङ्ग-उठङ्गकर भगवान को

गोहारते या खर्राटे भर रहे थे, पर पंडित जी का बुरा हाल था ? कभी किवाड़ के जंगलों से झाँकते, कभी तोंद ठोकते, कभी श्री० सेत्ताराम को याद करते, और कभी अपनी मूर्खता पर—अनधिकार चेष्टा पर, रोते पछताते। अपने-आपको गालियाँ देते, तुलसीदास को बुरा भला कहते, सनातनधर्म को कोसते, बिदुर को दुत्कारते, अपने महाप्रभु को फटकारते, पर बेचारे को किसी में भी शाति न मिली। क्षुधा दबनी तो दूर बल्कि वे जितना ही भूख के विषय में सोचते, मन को इधर-उधर उलझाते वह उतनी ही–"जिमि प्रतिलाभ, लोभ अधिकाई" की दशा को प्राप्त हो जाती थी। आखिर बिचारे क्या करते, सबका तो गोत्रोच्चार कर ही चुके थे, झखमार के जंगले के निकट आये और बड़े कातर स्वर में बोले—"कोई है बाबूजी ?"

एक पुलिस जो इनकी निगरानी पर तैनात था, पर बेचारा बड़ी मीठी नींद ले रहा था, पंडित की पुकार से जग पड़ा, और झल्लाता हुआ बोला—"कौन है बे ? क्या पैखाना पेसाब करेगा ?"

हाय-हाय कहाँ वे दिन, जहाँ हजारों, चरण धूलि मस्तक पर लपेटने के लिये लालायित रहते थे, दो-दो चौकियों के ऊपर तोशक, मसनद लगातार सम्राटों की तरह बैठा करते थे, हल्वे और खस्ती कचौरियाँ खाते-खाते कंठ छिल जाता था, बराबर तरमाल तैय्यार रहता था और कहाँ आज का दिन, एक बन्द कमरे में बिना रोशनी और बिछावन के चमगादड़ो की तरह बैठा-बैठा दरिद्र अनाथों की भांति भूख-प्यास का रोना रो रहा हूँ। हायरे समय ?"

पण्डित जी अब यह अपना दुखरूपी क्रोध किसपर उतारते ? अग्नि की लपटों में पड़कर कटोर लोहा भी गलकर पानी हो जाता है। अतएव पण्डित जी बड़ी नर्मी से बोले—"तनिक सुनिये बाबूजी !"

पुलिस फिर सो रहा था, इस बार वह उग्र होकर बोला—"क्या है ? कहता कुछ नहीं, खाली बाबू—दादा की ही पुकार पर पुकार मचा

रहा है। तुम लोग साला आपस में झगड़ा करेगा, और खाना, पीना, सोना, हमलोगां का हराम करेगा। बोल क्या है?"

पण्डित जी और दबे, और झुके। ऐसी तीक्ष्ण भाषा का प्रयोग अब तक उनके प्रति किसी ने नहीं किया था, दबी जुबान से, दाँतों के इशारे से बड़े करुणापूर्ण स्वर में बोले—"बाबूजी आप अइसा काहे बोलता है। हम बराभन हैं। लोग मेरा पैर पूजता है। हम कथा बांचता है।

पुलिस और कड़क कर बोला—"चुप बदमाश, तुम कथा बाँचता है कि आफत मचाता है। बोलने तक की तमीज है नहीं और कथा बाँचता है? बिरहमन के दुम बने हैं? तुम बिरहमन रहता तो योंही आफत बरपा कर देता? बोल क्या कहना है?"

पण्डित जी सकुचाये से बोले—"आप कवन जाति के हैं पुलिस बाबू?"

पुलिस बोला—"अबे जात पूछकर क्या करेगा? जेलखाने में जात पूछता है, अब तुम्हें डोमड़ों के साथ बैठकर खाना होगा, और मेहतरों की तरह पैखाना साफ करना होगा।"

पण्डित जी अब अपने को रोक न सके, बलक-बलककर रोते हुए बोले—"ऐ बाबू, हम वहाँ नहीं जायेंगे? बाप रे बाप? बज्जर परे इस धरमधजा पर! हाय!! मेरे बच्चे कलप-कलपकर मर जायेंगे। लाओ दादा हम आज ही सूद्रों का जूठ खाते हैं। हाय रे हाय!!"

पुलिस—"बेवकूफ! यही बात पहले न सूझी थी? किस जोम पर बेचारे गरीब मजदूरों को पिटवा दिया?"

पण्डित जी साग्रह बोले—"बाबूजी, मेरे पास दुई सौ रुपया है, दोहाई सरकार, दारोगा जी से कह-सुनकर मुझे छोड़वा दो दादा। बाप रे बाप, कहता था आपने बाप से "अरे हमको मत पढ़ाव" आखीर पढ़ने का फल इस बुढ़ौती में भोगना पड़ा। बाबू हम बड़ा असीस देंगे

सरकार। किसी प्रकार हमको छोड़ाओ, हाथ जोड़ता हूँ, पाँव पड़ता हूँ। मेरी घर वाली रोते-रोते मर जायगी। हाय रे हाय, किस बलाय में फँसा!"

पुलिस बोला—"अच्छा अभी सो रहो, इसका इन्तजाम कल होगा।"

पण्डित जी की भूख, भय के आतङ्क से भाग गई। वह रात्रि भर "शूद्रदेव-शूद्रदेव" की रटना रटते रहे। चूँकि सनातनधर्म पर से तो उन्हें उसी समय विश्वास उठ गया जब वे पुलिस के हाथों घसीटते हुए थाने में लाये गये, और उस समय न प्रल्हाद-रक्षक नरसिंह भगवान थाने के खम्भे फाड़कर उनकी रक्षा-हेतु प्रकट हुए, न द्रौपदी-दुकूल को बढ़ानेवाले ईश्वर ने ही स्वर्ग से कुछ सहायता भेजी।

चौथे दिन पण्डित जी, गाँठ के दो सौ रुपये गँवाकर, शूद्रों के पाँवों पड़े, कान पकड़े, क्षमा माँगी, और थाने से तीर की तरह जो भगे, फिर आजतक दिखाई न पड़े।

३

आँखों की प्यास

उस दिन मेरी मित्राणी विनोदिनी ने अपने डाक्टर पति की आँखों की प्रबल पिपासा के सम्बन्ध में एक बड़ा मजेदार और दिलचस्प किस्सा मुझे सुनाया। विनोदिनी के पति डाक्टर ताराभूषण सेन एक अति प्रचण्ड विकट डाक्टर थे, और एक डाक्टर के लिये जितनी भी हृत्-शुष्कता, तथा कठिनता की आवश्यकता होती है, उससे कहीं

अत्यधिक प्रचुर मात्रा में उनका डाक्टरी हृदय भरा-पूरा था। दिन रात के नश्तरों की सञ्जत-रोगियों की करुण कराह और आर्त्त चीत्कारमय वातावरणों के सुयोग ने, उनके हृदय को गच की नाईं पुख्ता और पत्थर की भाँति कठोर बना दिया था। अब संसार के अतीव करुण से करुण दृश्य, दीन-सी-दीन दयनीय घटना उनके पोख्ते दिल में टकरा कर आपही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती, लेकिन उनके डाक्टरी दिल को तनिक भी क्षुब्ध या क्लेपित न कर पाती। विनोदिनी-सी कोमल-हृदया, भावुक नारी के पति-देवता डा० ताराभूषण सेन इतने सुन्दर सुयोग्य पश्चिमी चिकित्सा-पद्धति के चिकित्सक थे कि ऐसे अद्भुत जीवनयापी की "आँखों की प्यास" कथा क्यों न एक विस्मयोत्पादक तथा तरल औत्सुक्य-जनक हो।

मैं विनोदिनी की ठुड्डियाँ हिलाती, प्यार से बोली—लो मुह मीठा कराओ, बाजे बजवाओ जो सेन मोशाय को भी "आँखों की प्यास" व्याकुल करने लगी।

वह हँसती हुई बोली—अरे तनिक सुनो भी तो अपने सेन महाशय की "आँखों की प्यास" कहानी? यह तो तुम जानती हो वे संसार के आठवें आश्चर्य हैं। सीने में दिल है पर रसहीन, मस्तिष्क है पर शुष्क काठ! तो ऐसे विचित्र प्राणी की आँखों की प्यास-कथा भी अद्भुत ही होगी।

मैं सोत्सुक बोली—तो क्या उनकी "आँखों की प्यास" कथा का अर्थ यह है कि किसी विदारने योग्य भयंकर "कारबंकल" या "बाघी" की रक्त-पीत-प्लुत शोभा-माधुरी पर परमाकर्पित हो "नश्तर जख्म' सम्मिलन दर्शन के हेतु उनके नयन युगल प्यासे हैं?

"हा-हा-हा"—उद्दाम यौवन के उन्मुक्त हास्य से मुक्ता की शोभा बिखेरती हुई, अपने पति के नेत्र पिपासा के विषय में मेरी ऐसी परिभाषा श्रवण कर, विनोदिनी धारा-हास्य प्रवाहित करती हुई बोली—

नन्हीं-नन्हीं रक्त-पीव की शोभा के तो वे इतने प्रचुरानन्द लूट चुके हैं कि उनके नयन अब उसके लिये प्यासे नहीं रह सकते, बल्कि वह तो एक विचित्र ही प्यास है।

"दुत्त भले मानस की"—प्यार से उसके गोल-गोल कपोलों पर आघात करती हुई मैं बोली—"बताती नहीं, केवल प्रतीक्षा के अधर में लटकाये प्राण लेना चाह रही है। अन्ततः ठहरी तो डाक्टर की मेहरी, शुष्क कठिन, हृदय विहीन, सत्संगति की महिमा का स्वल्प फल भी तो तुम्हें प्राप्त हो।

विनोदिनी बोली—अच्छा गत सप्ताह +++ सिनेटोन का मूक चित्रपट जो सिनेमा हाउस में प्रायः एक सप्ताह चला था, उसे तो तुमने देखा था?"

मैं अधीरतापूर्वक घबराकर बोली—हाँ-हाँ—तो? बड़ा बुरा था वह चित्र! पर क्या डाक्टर बाबू का दिल किसी राजीवलोचना का लक्ष्य हुआ है क्या?"

वह और हँसी! कैसी पागल स्त्री है, जिसका देवता दूसरे पर ढला जा रहा हो, उसकी यों खिलखिलाहट! पूरी अल्हड़ है अभागिन!

वह बोली—अजी किसी राजीवलोचना के लक्ष्य बनते तो विचित्रता ही क्या थी? आज तो सैकड़े निन्यावे लक्ष्य कहो या शिकार बने जाते हैं। पर वे तो एक निराली ही चीज़ का निशाना बने हैं।

"बता पगली! मुझे यों बेपानी का न मार।"—मैंने उसे फिर चपतिया दिया। वह फिर हँसती हुई बोली—"तुम तो जानती हो वह चित्र यहाँ सात दिन दो-दो "शो" चला था। तुम्हारे सेन माशा सातो दिन दोनों प्रदर्शन बराबर "एटेन्ड" करते रहे। प्रति दिन एक-एक बजे रात में, सो भी इस निठुर जाड़े में किवाड़ खोलते-खोलते मैं तंग आ गई। एक दिन मुझे वर्दाश्त न हुआ और मैं ऊबती सी बोल पड़ी—"राम जाने उस मुए चित्रपट में क्या रखा है, जो आज

सप्ताह भर से नित्य दोनों समय जाते हो। एक ही तमाशा आज छे दिनों से चल रहा है, फिर भी तुम्हें बिना देखे एक दिन भी चैन नहीं। अब कल से मुझे किवाड़ खोलते न बनेगा, एक नौकर रख लो और दया कर मुझे इस भयावनी सर्दी में न मारो। तुम्हारे सदृश डाक्टर नहीं हूँ जो मेरा हृदय कठोर हो गया है और मैं इन कष्टों को सह लूँगी।"

वे अपना हैट टेबुल पर रखते हुए मेरी खाट पर आ बैठे और बड़ी दीनतापूर्वक बोले—"देखो कल तक यह "फ़िल्म" चलेगी, जैसे ६ दिन कष्ट किये वैसे एक दिन और मेरे लिये कष्ट स्वीकार करो"—फिर वे मेरे नौकर रखने की बात पर अपनी कृपण नीति की रक्षा करते हुए अपव्यय, तथा अपने काम आप करने के आदर्श पर, अपनी सनातनी वक्तृता सुनाने के उपक्रम करने लगे। मैं बीच ही में बाधा डालकर बोली—"रहने दो अभी अपने भाषण-उपदेश! उसे सुनते-सुनते तो कान पक गये। मुझे बड़ा अचंभा तो इसलिये हो रहा है कि तुम जैसा घोर मितव्ययी और विचित्र प्राणी एकही चीज आज निरंतर छः दिनों से रोज दो-दो बार देखता है, फिर भी उसके नेत्रों की तृप्ति नहीं होती? तुम्हारे हृदय के तुल्य इस चित्रपट में ऐसी कौन-सी विचित्रता है, पहले मुझे यही सुनाओ, फिर जो तुम कहोगे सुनूँगी।"

तुम्हारे सेन मोशाय पहले कुछ मुसकराये, फिर मुखड़े पर लाली दौड़ी, फिर टटके भावुक कवियों-से गद्-गद् हो गये। सच पूछो तो जब से मैं इनके चरणों की सेवा में अपने माता-पिता द्वारा नियुक्त की गई, इस सूखे काठ की ऐसी "हरिअरी"—ऐसी ताज़गी मैंने कभी नहीं देखी। मैं हैरान हो रही थी। वस्तुतः कौनसा ऐसा तरलाकर्षक पदार्थ है इस चित्र में। हाँ—तो वे बोले—"सुनो, तुमने तो पहले दिन उस चित्रपट को देखा ही था।

मैंने कहा—हाँ।

वे बोले—तुम्हें वह "सीन" याद है, जब एक सुन्दरी तरुणी स्नानार्थ एक जलाशय के निकट जाती है, और सर्वप्रथम अपनी जाकेट खोलकर कूल पर रखती है, और ज्योंही वह अपनी साड़ी खोलकर बिल्कुल नंगी हो, जल में पैठना चाहती है कि ठीक इसी समय उस जलाशय के किनारे से ही एक "ट्रेन" पास करती है, और वह बगैर साड़ी उतारे ही जल में पैठ जाती है। यद्यपि उसकी हार्दिक इच्छा है, मैं जल में नग्न ही स्नान करूँ तथापि यह सुसरी ट्रेन ऐसे ऐन मौके पर आती है कि वह गरीब अपने दिल की साध नहीं मिटा सकती। बस, इसी दृश्य के लोभवश मैं जाया करता हूँ।

मैं बोली—तो अब उसका लोभ ही क्या? उसे एकबार के बदले बारह बार देख चुके, जिस चीज को बार-बार देख चुके अब उसमें आकर्षण ही क्या, और कैसा?

वे बड़ी तत्परतापूर्वक बोले—नहीं, नहीं, मैं वह सीन देखने तो जाता नहीं हूँ।

मैंने पूछा—तब क्या जाते हो देखने? उस नग्न स्नानार्थिनी की रूप-शोभा निरखने?

वे दाँतों से जीभ दाबकर बोले—च-च-च, यह तुम क्या कहती हो?

मैं—तब क्या करने रोज जाते हो।

उन्होंने कहा—मैं रोज इस व्याकुलता में जाता हूँ कि शायद सुसरी "ट्रेन" एक दिन भी, ५ मिनट के लिये लेट आवे तो उस बिचारी की मनचाही हो जाए। मगर न "ट्रेन" लेट आती है, न मेरा आकर्षण घटता है। देखूँ शायद इस बचे हुए "शो" में "ट्रेन" लेट आ जावे। बस यही एक मात्र मेरी "आँखों की प्यास" है।

मैं तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई, और विनोदिनी भी। कैसी अजीब खब्ती तुम्हारे ख़सम के सिर पर सवार है। अरे पूरा बागड़ ही

तो नहीं है ? वह कोई प्राकृतिक दृश्य थोड़े है जो दैवात् किसी दिन वैसी बात हो जाए। वह तो तमाशेवालों का बनाया हुआ कृत्रिम और निश्चित सीन है, उस दृश्य का इसी प्रकार सीन ही सेट हुआ है फिर गाड़ी लेट आयेगी ही क्यों कर ? तुमने उन्हें समझाया नहीं ?

विनोदिनी बोली—क्या समझाती, अरे मैं तो हँसते-हँसते मर गई, और वे गुस्से से काँपते बैठक में चले गये। उन्होंने समझा मैं उन्हें बना रही हूँ, तब से बोलते तक नहीं। कल वह फिल्म पटने को चली गई, अब वे रोज शाम को "ट्रेन-लेट" होने की आशा में पटने जाया करते हैं, और प्रातः लौटते हैं।

सचमुच इस विचित्र डाक्टर की विचित्र ही थीः—

"आँखों की प्यास"

४

चोट

"हाय री चोट ! हृदय की चोट ! मर्मस्थल की चोट ! मस्तिष्क की चोट ! चोट !! चोट !!! उफ् ! तेरा बुरा हो।........"

हमारे पण्डित जी, यद्यपि कहने को हम ३–४ विद्यार्थियों को कौमुदीसूत्र की साधना करा रहे थे, पर वास्तव में ऊपर कही चोट की ही रट हम लगाये जा रहे थे। पण्डित जी को यह खयाल था, कि लड़के हमारी चोट-रटना सुनते ही नहीं। "देखने में उल्लू और रटने में तोता" चुटियाबाज चेले भले ही ढेले फोड़ें, पर मुझ "सर्प-कर्ण" के कुहिर में

यह चोट-रटन्त पहुँचे बिना न रही। मैंने पूछा—"गुरुजी! यह चोट कौन-सा नवीन सूत्र है, जिसे घोंकने में आप बड़ी तत्परता दिखा रहे हैं?"

जलती कड़ाही में जैसे जल के छींटे पड़े। गुरुजी के दिल पर मेरी इस धृष्टतापूर्वक-चोट-सूत्र की मीमांसा पर, कितनी चोटें पहुँची सो सुनिये। वे अपनी आँखें, बड़ी कसरत से, जो भीतर धँसी रहती थीं, बाहर निकाल और उन्हें अपने बन्दरी-क्रोध में लाल-लाल कर बोले—"रटोगे सूत्र या लगाऊँ? बड़े "चोट" पूछने वाले बने हैं। कौन बेहूदा "चोट" रटता है, और कौन चोट कहता है?"

गुरुजी के ऐसे भिन्नाये हुए उत्तर ने उनकी "चोट" को मेरे लिये और भी रहस्यमय बना दिया। हाँ! बात क्या है, कि खुद तो चोट-चोट रटते हैं और पूछने पर नये बैल की तरह भड़कते हैं, कुछ भी हो मेरे सिर इस "चोट-रहस्य" के अन्वेषण की धुन सवार हो गयी।

* * * *

जो चोर होता है, वही अपनी दाढ़ी में तिनका ढूँढ़ता है। पापी का हृदय जिस किसी को बातें करते देखता है, यही समझता है, कि हो-न-हो यह मेरी ही पाप-कथा की बातें करता है। हमारे पण्डित जी की भी बात ऐसी ही थी। इनके निकट ही एक शूद्रवंश की अविवाहिता षोड़स वर्षीया अनिंद्य सुन्दरी कन्या रहती थी। एक दिन वह पण्डित जी के यहाँ एकादशी की तिथि पूछने आयी। पण्डित जी ने घण्टों उसकी बला की सूरत देखी, पहरों में पत्रा खोला और मुद्दतों बाद तिथि बतायी। वह हुस्नो-जमाल की जिन्दी पुतली, नाजो-नजाकत की चलती-फिरती तस्वीर, एकादशी तिथि क्या पूछने आयी, हमारे गुरुदेव को खासा सौदाई बनाकर चली गयी। इनके विमल ज्ञानमय पाण्डित्य-पूर्ण हृदय पर चोट लगा गयी। चोट खाकर हमारे पण्डित जी चारो

-खाने चित्त हो गये। जब वे स्वर्ग या नर्क-धाम से धरणी पर पटके गये, तब कुबेर ने अपने अतुल अगम्य कोष से न तो इन्हें एक कानी चित्ती ही दी, न ब्रह्मा बाबा ने किसी गुले-रुखसार को लुभाने के लिये इन्हें—गुलफाम ही बनाया। सरस्वती देवी की कुछ कृपा थी, वह भी थोड़ी-सी नाममात्र के लिये; दूसरे शब्दों में पण्डित जी पृथ्वी के बोझ ही थे। धन, विद्या और सौन्दर्य, इन तीनों प्रबल मोहनी शक्तियों में कोई भी शक्ति इनके पास न थी। एक तो देहाती आदमी! दूसरे सर पर प्राचीन पण्डिताई सवार। पूर्वजों की परम्परा के पक्के समर्थक! सिगरेट-बीड़ी से घोर घृणा, परन्तु "तमाल पत्रम्" से हार्दिक प्रेम! कोट-कमीज, इङ्गलिश-शू, फेल्ट कैप, हैट से जानी दुश्मनी, पर बाबा के २० गज के पग्गड़, नाना के पौरिया-काट का बन्ददार जामा (कुर्त्ता) और ललुआ चमार की पैर नोचती जूती से बड़ी प्रीति थी। सिगरेट का धुआँ जहाँ उस गरुड़ नासिका के गह्वर में घुसी, कि पण्डित जी को फिट पर फिट आयी, पर अपने मुखार्विन्द से अहर्निश, सृष्टि की एकमात्र सुख की सामग्री ब्रह्मा बाबा की बतायी 'तमालं-तमालं' की भकाभक निकलनेवाली खूशबू (!) से वे खूब प्रसन्न रहते थे। उन्होंने अपनी इस परम मोक्ष-दायिनी "राम सुर्ती" का शुभ नाम 'सञ्जीवनी' 'ज्ञान-वर्द्धिनी' 'पाप-नाशिनी' 'चैतन्य-दायिनी' 'खुलासा दस्त कारिणी' आदि रखे थे। कभी-कभी तो वह यह कह बैठते थे, कि लक्ष्मण की मूर्च्छा के समय सुषेण ने इसी "चेतन्यचूर्ण" को सुँघाकर लक्ष्मण को चैतन्य किया था। पण्डित जी अपनी इस "रामसुर्ती" के विरुद्ध एक शब्द भी सुनने को तैयार न थे। बाबा आदम के जमाने के कुर्त्ते में लगी उदर तक लम्बी जेब में, निश दिन राम-सुर्ती भरी रहती थी। तेल बत्ती से ज्यादा खर्च इसी ज्ञानवर्द्धिनी की उपासना में होता था। मिनट-मिनट पर फाँके पर फाँके अपनी अघासुरी मुखकन्दरा में रखते थे और खाट के नीचे उगल-उगलकर एक

अम्बार-सा लगा दिया करते थे। राम ! राम !! जी तो चाहता था, कि ऐसे अघोरी का मुँह बकोट लूँ, पर बेबस था।

एक दिन मैं एक सूत्र पूछने गया। सूत्र बताते बताते वही ब्रह्मा के प्रशंसित "तमालं तमालं" की पवित्र गन्धमयी खूशबू के साथ-ही-साथ एक कुल्ला थूक बलबलाकर उनकी मुख-कन्दरा से निकल पड़ा। मारे खूशबू के (!) मुझे उसी दम उल्टी हो गयी। फिर तो तीन दिन तक ठीक भोजन के समय उस सुगन्धि की याद आती रही। मुखसे ही नहीं, बल्कि पण्डित जी के अंग-प्रत्यंग से—यहाँ तक कि कुर्त्ता, छाता, चादर, जूता से भी उनकी इस 'खुलासा दस्त-कारिणी' की सुगन्ध सदा उड़ा करती थी। बन्ददार कुर्त्ता, जिसमें मितव्ययिता के नाम पर कपड़े की खासी कोताही (कमी) की गयी थी, बड़ी कसरत से इस कुम्भकर्णी काया में घुसेड़ा जाता था, फिर भी बेचारा निर्बल बन्द, उस नक्कारे-रूपी तोंद के प्रबल वेगों के सामने कहाँ टिकता, बाँधते ही भस-भसाकर टूट पड़ता था, और उनका वह "प्रचंड पेट" नई बहुरिया-सा कुर्त्ते की ओट से झाँका करता था। श्री स्वर्गीय लकड़-दादा जी की मणिकर्णिका घाट पर दान में मिली, एक बित्ता अरज वाली पगड़ी, स्मारक और स्मृति के नाम पर आज तक संचय कर रखी गयी थी, जो फटकर चीर-चीर हो गयी थी। पण्डितजी उसे "दादा जी की पगड़ी" कहकर बड़े प्रेम से बाँधते थे और बाँधने पर फटी पगड़ी की एक-एक चीर, चारों ओर मौर के सेहरे की तरह लटत-लटक कर, सर्वसाधारण का मन मुग्ध करने के साथ ही साथ पगड़ी की प्राचीनता का घोर समर्थन कर रही थी। जूते भी प्राचीनता के द्योतक थे। चलने पर फ्ट-फ्ट की ध्वनि के साथ ही दो-दो तीन-तीन सेर धूल पीछे को फेंका करते थे। पण्डित जी मुश्किल से महीने में २४ रु० बचा पाते थे। ऐसी सफाई और ऐसी कमाई पर चोट की दवा क्या हो ! पर हाँ ! एक बात थी, पण्डितजी को आज तक हमलोगों ने

हँसते और मनोरञ्जन करते कभी नहीं देखा था। उनके विकट मुख-मंडल पर प्रचण्ड पाण्डित्य की गम्भीर सिकुड़नें सदा पड़ी ही रहती थीं। विद्या-प्रभाव से उनके नयन-युगल सर्वदा रक्त-वर्ण ही रहा करते थे। किन्तु जिस समय वह शूद्र-कन्या इनके निकट से निकलती थी, उस समय तो इतनी जिन्दादिली दिखाते थे, ऐसी सौजन्यमयी मूर्ति धारण कर, प्रेमपगी दृष्टि से अपने एक-पर-एक लदे हुए दाँतों को विदोरते, कि बस रे बस! देखने वाले समझते, कि यदि साक्षात् प्रेम और सौजन्य की जीती-जागती प्रतिमा हैं, तो यह हमारे पण्डितजी!

ज्यों-ज्यों दिन बीतते थे, त्यों-त्यों चोट, अपनी चोट और भी तौल-तौल कर लगाती थी। प्रेम-भाव से इनका प्रत्येक अङ्ग परिप्लावित हो उठा था। मुहब्बत के भूत इनके खल्वाट खोपड़े पर चढ़कर धमा-चौकड़ी मचाने लगे थे और उनके ऊधमों के मारे इनके नाकों दम था। उठते हाय, बैठते उफ, सोते चोट की रटना करना, इनके प्रेम-जीवन का एक मुख्य कार्य हो गया। शायद पण्डितजी महाराज ने जिन्हें आज भी अक्षर-अक्षर कौमुदी सूत्र याद है, अपने बाल्यजीवन में सूत्रों के स्मरणार्थ इतनी रट न लगायी होगी, जितनी कि आज इस चोट की रट लगा रहे थे। पण्डितजी ने कई बार मुझे उससे (शूद्र कन्या से) बातें करते देखा था। इसी से "बीबी से पार न पावो, और मियाँ को नोच मारो" वाली कहावत के मुताबिक मुझ गरीब बेगुनाह पर ही बेतरह ख़फ़ा रहते थे। सर्वदा मुझे संदिग्ध नेत्रों से देखते और मन-ही-मन सोचा करते कि बस "मेरे हलुवे का कंकड़" है तो यही। उस दिन जो मैंने "चोट की बात" पूछी थी, इसी कारण पण्डितजी मुझपर बेहद नाराज हो, बरस पड़े थे।

जो लोग आज शूद्रों के नाम पर नाक सिकोड़ते हैं—अपने मन-गढ़े "वर्णाश्रम धर्म" पर मर्यादा का मुलम्मा चढ़ाकर इस तरह मनुष्य:

जातिके उन सात करोड़ प्राणियों को—जिन्हें मेरी ही जैसी अस्थियाँ हैं, जिनकी सेवा से हम कभी उऋण नहीं हो सकते और जो हमारे ही समान राम-कृष्ण को पूजते हैं, उन्हें अपना इष्टदेव मानते हैं—दूर रहो, कहकर उसके साथ वमन-वस्तु सा व्यवहार करते हैं, वे धर्म-धुरीण जब टट्टी की ओट से निशानेबाजी करते हैं, तब तबियत झल्ला उठती है और जी चाहता है, कि ऐसे समाज-धर्म-ध्वंसकों को कच्चा ही चबा डालूँ। उनकी इस नीचता का विधिवत् दण्ड दूँ और दुनिया की आँखों के सामने इन धर्मध्वजियों (!) की पोल-पिटारी खोल उनकी भी आँखें खोल दूँ, कि देखो! अपने धर्माचार्यों की यह करतूत! ऐसा रूप! किस तरह 'शूद्र न पूजिये चतुर-प्रवीणा' कहते चलते हैं, और किस तरह अपने मुँह आप जूते लगाते हैं। हमारे पण्डितजी का भी इन अभागे शूद्रों के प्रति वही "काका जपैं सो हम जपैं" वाला विचार-व्यवहार था। उनके भी विशाल हृदय के कोने में इन शूद्रों के लिये अंगुल भर भी स्थान न था। वे भूलकर भी सबेरे भंगी, डोम, चमार का नाम नहीं लेते थे। छाया पड़ते ही "अपवित्रम् पवित्रोवा" की ५०० वार बांग लगाकर केवल एक ही चिल्लू पानी अपने तगड़े शरीर पर उड़ेलकर परम पवित्र हो जाते थे, क्योंकि माघ के निष्ठुर जाड़े में बार-बार स्नान करना और मरना दोनों एक ही समान पीड़ादायक था। पर 'चोट' ने तो इन्हें बड़ा बेचैन कर दिया था, इनकी सारी पण्डिताई और सफाई बस, एक ही—पर हल्की चोट में लोट-पोट हो गयी थी।

पण्डित जी तो इधर इस तरह उसके (अपनी माशूका के) क्षणिक रूप यौवन के आक्रमणों से परास्त थे। अपनी सारी पण्डिताई और पवित्रताई का गला अपने ही हाथों काटने के हेतु छुरे पर शान दे रहे थे—सौ सौ जानपर कुर्बान हो रहे थे। और उधर उस बेचारी निरीह नादान शूद्र-कन्या को पता तक न था, कि इस तरह उसके पीछे एक

काला-कलूटा, बूढ़ा ठूँठ हाथ धोये पड़ा है, उसका एक-एक पल उसकी चिन्ताओं में ही समाप्त होता है।

* * * *

एक दिन पढ़ाते समय पण्डितजी हम लोगों से बातों ही बातों में पूछ बैठे—"क्यों जी! सचमुच मैं बड़ा कुरूप लगता हूँ? क्या मेरे सब बाल सफ़ेद हो गये हैं?

किन भावनाओं से प्रेरित होकर पण्डितजी ने विद्यार्थी-मण्डल के समक्ष ऐसा मजेदार प्रश्न उपस्थित किया है? यह कौमुदी-सूत्र की रटना में दिन बितानेवाले क्या ख़ाक समझें। परन्तु मैं झट ताड़ गया कि ये उद्‌गार उसी चोट के निवारणार्थ वहिर्गत हुए हैं, उसी बेचैनी के आसार हैं। मैंने कहा—"कौन कहता है, कि आप कुरूप हैं? और बाल! अरे बाल तो आजकल के छोकड़ों के भी सफेद हो जाते हैं। अगर ऐसा ही है, तो खिजाब"—बीच में ही पण्डित जी बोल उठे—"हाँ! हाँ!! वही तिज़ाब! तिज़ाब!!...."

मैं—"नहीं-नहीं! तिजाब नहीं, खिजाब पण्डित जी।

पं०—हाँ जी! वही खिजाब कल मुझे थोड़ा-सा ला दो।"

मैं—"बहुत अच्छा।"

दूसरे दिन मैंने काले खिजाब के बदले "नारङ्गी" खिजाब ला दिया। पण्डित जी बड़ी खुशी से अपनी खोपड़ी पर उगे केशों को रँगने लगे, पर नारङ्गी रङ्ग देखकर थोड़ा भड़के और बोले—"अजी यह तो काला नहीं हुआ।"

"मैं—"जी हाँ! पहले दो-एक मास बाल इसी "रङ्ग" में रहेंगे, बाद को काले हो जायगें, यह "रङ्ग अस्तर" है।"

पण्डित जी—"अस्तर क्या?"

मैं—जैसे किवाड़ रँगने के पहले "सफेदी का अस्तर" होता है।"

पण्डित जी "खिजाब" किसे कहते हैं, यह भी न जानते थे, वह

तो खिजाब को तिजाब ही समझते थे। वे मेरे इस विज्ञानमय उत्तर को सुनकर चुप हो गये।

अब थियेटर के जोकरों की तरह सर और मूँछ को रङ्ग कर दिन में चार-चार बार बेकाम और बिना मतलब उस शूद्र-कन्या की गली में घूम-घूमकर अपने सौन्दर्य और मुखड़े की झलक दिखा आने की खब्ती इनके सिर सवार हुई। हमारे पण्डित जी को भी नारद बाबा के सदृश दृढ़ आशा थी, कि हमारी सूरत देखते ही हमारी विश्वमोहिनी लोटन कबूतर हो, हमारे सुन्दर सुकोमल चरणों (!) पर आ गिरेगी और मैं अपने मन-मोहक रूप और प्रेमपूर्ण कटाक्ष से मिनटों में उसे मोह लूँगा। पण्डित जी ने इधर दिव्य "वशीकरण" मन्त्र का जाप भी करना आरम्भ कर दिया था। मन्त्र की शक्ति और सूरत की खूबी के सामने वह जाती कहाँ है? इसी ऐंठ मे हमारे पण्डित जी मूँछे मरोड़ा करते थे। उसके सम्मिलन के भावी सुखों को मन ही मन अनुभव कर उछल पड़ते थे। मैंने दिल में सोचा—"तमाशा तो बहुत हुआ, पर अब बाबाजी को "पर दारा दस्युता" और "सतीत्व संहारक" का सच्चा तमाशा दिखाना चाहिए। भगवान् विष्णु कथित "कड़ी भैषज" की घूँट इनके गले उतार कर चोट का असली मजा चखाना चाहिये—मर्ज की दवा होनी चाहिये।

* * * *

एकाएक कमरे में प्रवेश कर शूद्र कन्या बोली—"लीजिये पण्डित जी! लछ्मन बाबू ने कहा है, कि जरा इस भाजी को पण्डित जी को दे आ, मेरी फुलवारी की है, मैं इस समय काम से जा रहा हूँ।"

मैं छिपकर देख रहा था, कि पण्डित जी कैसे-कैसे रङ्ग बदलते हैं। पहले तो मेरा नाम सुनते ही दिल में कट मरे, कि दुष्ट! मेरी सम्पत्ति पर दृष्टि लगाता है। पर एक मिनिट में झट भाव बदल कर

बड़े स्नेहासिक्त कण्ठ से बत्तीसों दाँत निपोर कर बोले—"ओह! वह गया कहाँ, व्यर्थ ही तुम्हें कष्ट दिया।"

आशा तो यह थी, कि इस प्रकार दाँत निपोरने और ऐसे सुमधुर वचनों से, अवश्य कुछ मधुमय हास्य या हृदयहारक नैन परिचालन का पुरस्कार पाऊँगा, पर आशा-निराशा में बदल गयी। बिना कुछ कहे' हँसे-मुसकाये रमिया चली गयी।

मैं दूसरे दिन आकर बोला—रमिया तरकारी दे गयी थी पण्डित जी?"

मन ही-मन कुढ़कर पण्डित जी बोले—"हाँ दे गयी थी।"

पण्डित जी यद्यपि यह नहीं चाहते थे, कि उनकी 'चोट' का भण्डा-फोड़ हो। वे कम-से-कम मुझसे तो जरूर छिपाना चाहते थे, क्योंकि एक तो पर-स्त्री-गमन का पाप, दूसरे वह शूद्र कन्या। इस 'गुनाह बेलज्जत' की खबर जब लोगों को लगेगी, तो जो कुछ उन्हें मिल जाता है, वह भी सदा के लिये बन्द हो जायेगा। मैं जानूँगा तो, एक म्यान में दो तलवार के कारण खासी चहल-पहल होगी, और मैं पण्डित जी की पोल भी खोल दूँगा। अस्तु, पण्डित जी ने अपने को बहुत सम्हाला, जबान पर लाख लगाम लगायी, पर चोट ने उनके दिल पर ऐसी चोटें लगायी थीं, कि वे बेचैन थे, लाचार थे, थोड़ी देर बाद बोले—"क....क....क्या?" पण्डित जी का कण्ठ शुष्क हो गया। आखिर पाप तो सर का जादू है, बिना बोले कैसे रहे?

मैं—"देखिये कुपित्त न होइये पण्डित जी! वह "चोट" वाली आप से मिलना चाहती है।"

अन्धे को चाहिये क्या? आँखें! पण्डित जी परम प्रसन्न हुए। वे इससे दुखित तो अवश्य थे, पर मामला गुपचुप न रह सका और मैं जान गया। परन्तु जब उन्होंने देखा, कि बिना मेरी सहायता के काम होना कठिन है, तब चुप हो गये। परन्तु कुछ देर बाद बोले—

"क्या कहा लल्ला ! तू मेरा विद्यार्थी है। मन तो कहता है, कि तुझसे दिल की बात न कहूँ ! पर देखता हूँ, बिना कहे काम भी नहीं चलेगा, क्योंकि "चोट" की भीषण पीड़ा सहते-सहते मेरा कलेजा छलनी हो गया है। वास्तव में मैं उसे हृदय से चाह........" पण्डित जी के चेहरे पर अरुणाई आ गयी और उनकी बोलती बन्द हो गयी।

मैं—पण्डित जी ! व्याकुल होने की बात नहीं। आप बहुत शीघ्र परम शान्ति प्राप्त करेंगे।

पण्डित—"पर देखना भाई ! काम बड़ी सावधानी से हो, जिससे भण्डाफोड़ न हो जाये।"

मैं—"नहीं, पण्डित जी ! आप निश्चिन्त रहिये। परमात्मा को भी मालूम न होगा, मनुष्य की कौन कहे।"

इसे क्या कहूँ ? प्रेमावेग या पापावेश ! जो लोग गैर की बहू-बेटी की हुर्मत 'प्रेम' के नाम पर लूटते हैं, उसे पथ-भ्रष्ट करने के बहाने अपने को आशिक कहते हैं, समाँ के परवाने बनते हैं, आप भी जलते और उसे भी जलाते हैं फिर भी प्रेम ही प्रेम चिल्लाते हैं। क्या सचमुच वे प्रेमी हैं ? बात बड़ी सीधी है, इसमें मगज मारने की जरूरत नहीं ? दयालु कृपालु ईश्वर, भैरव और रुद्र का रूप धारण कर अपनी निष्ठा की रक्षा के हेतु अथवा संसार समाज में शान्ति स्थापन के लिये बुरी तरह से पाप का दण्ड देता है। अस्तु !

जो हो पण्डित जी कुछ तो मेरे कहने से और कुछ अपनी खूब-सूरती और मन्त्रसिद्धि के बल पर यह भली-भाँति जान गये, कि वह मुझे चाहती है। मेरे लिये तड़पती है। इस तरह हमारे पण्डितजी अपनी प्रेमिका से अपने "प्रेम" का या "पाप" का बदला लेने के हेतु बद्ध-परिकर हुए।

\+ \+ \+ \+

चोर ! चोर !! दौड़ो ! दौड़ो !! के हल्ले से महल्ला गूँज उठा।

कोई लाठी, कोई ईंट, कोई जूता—यानी उस धुन में जिसके हाथ में जो मिला, लेकर चोर को मारने दौड़ा। चोर पकड़ा गया। वह रमियाँ के घर में घुसा ही चाहता था, कि वह जगकर चोर-चोर चिल्ला उठी थी। बड़ी मार पड़ी। परन्तु जब लालटेन लेकर लोगों ने चोर का मुँह देखा, तो वे निकले हमारे चोट वाले पण्डित जी! सब बोल उठे, "अरे! यह तो संस्कृत के पण्डित हैं। हाय-हाय!! बेचारे मुफ्त में पिट गये, चोर तो भाग गया।" पण्डित जी कराहते हुए बोले—"हाय रे मुझे बड़ी चोट लगी है" राम जाने, पण्डित जी दिली "चोट" की बात कहते थे या शारीरिक! सुना, कि एक सप्ताह बाद उस "चोट" ने उनकी जान ले ली। वे चोट-चोट चिल्लाते स्वर्ग को या नरक को सिधार गये, यह जानने की उत्सुकता किसी ने नहीं प्रकट की।

५

होली की हजामत

इस मौसमे-बहार यानी "होली" में—"होली" के ही दिनों में सङ्घठित यदि एक मजेदार किस्सा मैं सुनाऊँ अपने उन मोअजिज दोस्तों की, जो "कोठों" के शौकीन, नाजनियों के बन्दा और अपनी आदतों से लाचार-बेजार हो, अपने आचरणों पर अत्याचार कर जली-लोख्वार हो बैठे हैं—तो शायद अप्रासङ्गिक न होगा।

मेरे मुहल्ले के मशहूर बुजुर्ग मुंशी चिथरूलाल, जो सदा "शमला" और चोगा से लैस रहते थे, और बिना कभी अपनी इस पोशाक के

अपने कुल ३। तीन हाथ की बड़ी "बारादरी" के जीने से पेशाब करने भी नहीं उतरते थे—एक अजीबो-गरीब शख्श थे। यों दुनियाँ उन्हें चाहे जो कुछ कह ले, पर आप, अव्वल नम्बर के शरीफ, तालीबुलइल्म, हुनरयाफ्ता और दौलतमन्द शख्श थे। जैसे सिक्खों का सर एक क्षण भी कंघी से खाली नहीं रहता, उसी तरह आपके भी गर्दभ जैसे कर्णेंद्रय कण्डे की कलम से कभी खाली नहीं देखे गये। आप कहते भी थेः—

"कलम गोयेद के मन कहे जहाँनम्।
कलम कसरा बदौलत मीर सानम्॥

कलम कहती है कि मीर मैं हूँ" आदि-आदि। फिर ऐसी गुणागरी, सर्व-सौख्य प्रदात्री कलम को वे क्यों भूले रहे? हमारे मुंशी जी कचहरी के पैरोकार थे, जिन्हें मुख्तारों की दुम "सोख्तार" कहा जाता है, यानी मुख्तारों के छीने-झपटे से काश कुछ पैसे मुवक्किलों के पास बचे, तो आप झट उन्हें "सोख्त" कर लेते हैं, और धीरे-धीरे, जैसे अगम समुद्र सोख जाते हैं। आपका परिवार विशेष वृहत् न होकर यहीं तक सीमित था। एक तो साक्षात् श्रीमान् मुंशी जी—दूसरे आपके सकल गुण गरिष्ट सुपुत्र बाबू बेनीमाधव प्रसाद जी, जिन्हें कुछ मूर्ख लोग "मधउआ" कहा करते थे—और तीसरी साक्षात् चण्डिका रूपा, परम कलह प्रिया, श्रीमती चिथरुआनी जी। ये तेजपुञ्ज तीन शक्तियाँ जहाँ समवेत होतीं, और इनके समागम, सम्मिलनरूपी सङ्घर्षण से बुलन्द आवाजों की जो तोपें बरसतीं कि "ग्रेटवार" की तोपें ससुरी भी क्या खाकर इतनी गरजती होंगी? मुहल्लेवालों को रोज रात्रि में "देवोत्थान-एकादशी" के रात्रि जागरण का महापुण्य इन बहुल शक्ति-सम्पन्न मूर्तियों के सुसमागम से आप-ही-आप मिल जाया करता—बिना तरद्दुद और तकलीफ के।

पर बिचारे मुहल्लेवाले भी, अन्ततः कितना पुण्यार्जन करते? रोज-रोज यदि वे एकादशी के रात्रि जागरण व्रत की ही उपासना किया

करें तो विचारे जियें कितने दिन ? और उनके संसारी कार्य हों तो किस प्रकार ? कुछ मुहल्लेदारों ने बहुजूर कलह-कट्टर (कलेक्टर) साहेब की खिदमते-आलिया में अर्जी पेश की, "हुजूर हम मुंशी चिथरूलाल के कुनबों के घोर कलहकाण्ड की भीषण गर्जन से आज अर्सा चार माह से नहीं सो रहे हैं, कोई मुनासिब इन्तजाम हो। हम अपनी जिन्दगी से बेजार हो रहे हैं।"

मुंशी जी तलब फरमाये गये। आलिया-अदालत ने कैफियत पूछी। मुंशी जी कोई गधेड़े तो थे नहीं, वे थे कचहरी के पुराने कुश्तीबाज ! बोले—"हजूर हम सब शाम को जुटकर अपने घर के हिसाबों की जाँच-बूझ आपस में करते हैं, हम कोई "पोलीटीकल" तकरीर तो देते नहीं, जो हमपर १४४ आयद हो, और मुहल्लेवाले वैसे कोई वाज़िदअली साहब नबाब की औलाद हैं नहीं, जो हम आदमियों की साधारण बोल-चाल से इनकी नींद हराम होती हो। हजूर खामखा मुझ बूढ़े को तङ्ग करने के लिये ये फरेब रचे गये हैं।"

मुहल्लेवाले लाख चीखते रहे—"हुजूर खुफिया तरह से पता लगा लिया जाय" पर "केस" खारिज फरमाया गया, और इधर मुंशी जी मूँछों पर ताव देते घर चले आये। मुहल्लेवालों पर खासी धाक् जम गई, और उस दिन से गर्जन-तर्जन में भी कुछ विशेष वृद्धि हो गई।

जमाना होली का था, मुहल्लेवाले जले भुने थे ही, उन्होंने युक्ति से मुन्शी जी से बदला लेना चाहा। एक ने कहा—मुंशी जी आप पर एक तवायफ जी-जान से फिदा है और आपकी याद में बेहाल रहती है।" मुन्शी जी ऐसी खुशखबरी सुनकर बेताब हो गये, झट शमला संभाला, चोगा पहना और उसके साथ हो लिये। तवायफ पहले से ही ठीक थी, वहाँ मुन्शी जी की खासी खातिरदारियाँ हुई। रात भी वहीं काटने की तय पायी।

इधर मुहल्ले में एक बड़े प्रचण्ड हस्तरेखा देखने वाले आ गये,

दस बीस औरतें जुट पड़ीं और उस "ग्रूप" में श्रीमती मुंशिआइन भी। अनेकों के सही सही बिल्कुल दुरुस्त हाथ देखने के बाद उन हस्तरेखाप्रवीण ने उनका भी हाथ देखा, और वह बड़ी गम्भीर मुद्रा से बोला—"आज रात्रि को तो आपके परिवार में एक भयानक ग्रह आने वाला है।

—"दैय्यारे! यह क्या गजब!"—मुंशिआइन जी चीख उठीं—"महाराज! वह कैसा ग्रह है, और उससे बचने का क्या उपाय है?"

"उपाय है, मैं बताऊँगा। आज रातको प्रायः बारह बजे एक पिशाच बिल्कुल नंगा-धड़ङ्गा, जिसका मुख आधा तो लाल और आधा काला होगा, आपके दरवाजे पर आकर ठीक आपके पति के स्वर में उसी तरह—जिस तरह आपके पतिदेव आपको पुकारते हैं पुकारेगा, और यदि आप किवाड़ न भी खोलेंगी तो वह आकाश मार्ग से उड़कर आपके आँगन में आ खड़ा होगा। इस हेतु जब वह पुकारे, आप फौरन किवाड़ खोल दें। हाँ, दो बड़े-बड़े "चैले" (फाड़ी हुई लकड़ी) आप सुलगाए रखें, जब वह पुकारे फौरन उन चैलों को ले उस पर टूट पड़ें। देखिये याद रखिये वह कहेगा—"मैं तुम्हारा पति हूँ, 'माधो' का बाप हूँ, मुझे न मारो, गौर से लालटेन लाकर पहचानो।" वह बहुत-बहुत आपके गृह या परिवार सम्बन्धी पते की बातें कहेगा, पर सावधान, आप मारने में कभी रियायत न कीजियेगा, वर्ना आपका भयंकर अनिष्ट होगा। समझीं?"

—"नहीं, महराज, भला हम उस कलमुँहे पिशाच को मारने में काहे को रियायत करेंगे। अफसोस मेरे मालिक नहीं हैं, कलक्टर साहब ने एक मामिले की जाँच में उन्हें मुफस्सिल भेज दिया है। शाम को ही तो हमसे कह कर गये हैं। खैर क्या पर्वाह! हम माँ बेटे उस दाढ़ीजार को पीटने के लिये काफी हैं।

—हाँ, वही कह दिया! हुशियार रहियेगा।"

—बहुत अच्छा महाराज !

इधर रात में मुंशी जी से वह तवायफ खूब गलबहियाँ डालकर बातें कर रही थी, मुंशीजी भी अपनी आशिकदिली दिखाने से बाज नहीं आये। सहसा एक बड़ा विकरालकाय जवान कोठे पर चढ़ आया, और उसने आते ही तवायफ को धक्के देकर गिरा दिया। मुंशीजी को भी तीन तमाचा खींच-खींच कर मारा, फिर उनका कान पकड़ कर झकझोरते हुए वह बोला—"मरदूद के बच्चे, तुम्हें मालूम नहीं यह मेरी है, यहाँ क्या करने आया? आज हम तुम्हारी नाक काटेंगे।" मुंशीजी केले के पात की नाईं काँप रहे थे, सूरत पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, वे काँपते कण्ठ से, करबद्ध हो बोले—ह-ह-हजूर—हम बिल्कुल बेकसूर हैं ! इसी ने....

—अबे चुप ! बेकसूर का बच्चा ! खैर तेरी इसी में है कि सारे कपड़े सीधी तरह यहाँ उतार दे।

—तो, तो, तो हम नंगे हो जाँय ?

—"हाँ ! हाँ !! फिर बहस करता है !" उस जवान ने फिर इनका कान पकड़ कर बड़ी बेरहमी से हिलाया और बोला—जल्दी कर !

मारे भय के मुंशीजी ने सारे कपड़े उतार दिये, पर धोती खोलने में बिचारे घचपचा रहे थे। फिर वह जवान कड़क उठा। क्या करते बेचारे "मरता क्या न करता !" बिल्कुल नङ्गे और मादर जात नङ्गे हो गये। फिर उनके मुख आधे लाल और आधे काले रङ्ग से सर्कस के जोकरों की नाईं रङ्गे गये। कान पकड़ कर उठाया बैठाया गया, और सीढ़ियों से उतार कर वे सड़क पर ला खड़े कर दिये गये।

सड़क पर आते ही बिचारे सर पर पाँव रख कर घर की ओर भागे और बड़ी घबराहट भरी आवाज में द्वार पर पुकारने लगे—माधो की महतारी जल्द किवाड़ खोलो ! हाय ! हाय !! मरा !!!

इधर इन्तजार भी इन्हीं की थी, माँ-बेटे दो दहकते हुए चैले

लेकर लपके और किवाड़ खोलकर बड़ी फैय्याजी से आपके सर पर वह जलता हुआ "चैला" बरसाने लगे।

—"अरे अरे!! माधो की महतारी, अरे मैं—मैं हूँ माधो का बाप! मरा—मरा—अब रुको, बापरे बाप! अरे बेटा माधो, क्या तू भी नहीं पहचानता, आज ही तो तेरे लिये बाजार से होली के कपड़े लाया था—अरे हाय! हाय!! मरा-मरा।"

माधो बोला—"हाँ, हाँ, खूब पहचानता हूँ तुम्हें बेटा! साला ब्रह्मपिशाच! क्या महल्ले भर से कमजोर हमीं को समझ रहे थे, जो अपने बाप के घर की तरह चले आए। ले ले और ले दो-चार—आठ दस!

मुंशिआनी बोलीं—हाँ, हाँ, लगा, लगा दाढ़ीजार को, बाबाजी ने ठीक ही कहा था—सारा पता देगा और ठीक-ठीक, यह नहीं समझा कि हम ब्रह्मपिशाच के भी पीर हैं। ले राँड़ के पूत और ले, सात आठ दस।

अब मुंशीजी बेतरह चीखने लगे, मुहल्लेवाले टूट पड़े, देखा तो एक नङ्ग-धड़ङ्ग पर चैलों की घनघोर वर्षा हो रही है। लोगों ने पूछा—"क्या है?"

माँ बेटे एक साथ ही बोले—"यह ब्रह्मपिशाच है, यह आया तो था मेरा सर्वनाश करने, पर हम सब इसी के शनीचर उतार रहे हैं।

मुन्शी जी बिचारे काफी पिट चुके थे, और थे बूढ़े आदमी! लोगों को उनकी हालत पर बड़ी दया आई? एक बोला—अरे भूतों की परछाँई नहीं होती, पर इसकी तो है, जरा लालटेन लेकर गौर से देखो! जब लालटेन आई तो लज्जावश मुन्शीजी ने फिर एक बार 'गृह प्रवेश का जोर लगाया, पर स्त्री और बेटे के धक्के खाकर चारो खाने चित्त गिर पड़े! आख़रस भंडा फूटा—अरे! ये तो सचमुच मुन्शी जी हैं, न जाने बेचारे की किसने इस होली में ऐसी हजामत बनायी है? माँ-बेटे मुंशिआनी रो पड़े! स्वस्थ होने पर मुंशी जी को सारे

षड़यन्त्रों का पता लग गया, और उन्होंने उस मुहल्ले को सदा के लिये त्याग दिया।

अब भी जब कभी श्री मुंशीजी से इस मुहल्ले के लोगों की मुलाकात होती है, तो कतराकर बच निकलते हैं, पर लोग क्यों मानते—सलामी दागकर ही उनका पिण्ड छोड़ते हैं, क्योकि इसी "सलामी" में तो "होली की हजामत" का इशारा था।

६

जिन्दा भूत

लड़कपन की तुतली और कठिन शब्दों से अनभिज्ञ होने के कारण, अक्सर हमलोग शुद्ध शब्दोच्चारण में गड़बड़ा जाते थे। "क़ाफ" को "गाफ" और "हम्ज़ा" को "हजमा" कह देते, फिर तो हज़रत मौलवी साहेब के गुस्से का पारा अकाश की शैर करने लगता। बदतमीज, कुन्दजेहन, बद्शउर की बौछार-वर्षा के साथ ही दर्जनों छड़ियों और थप्पड़ों से हम लोगों के कपोल-कनपटियों, और पीठों की खबर ली जाती। पढ़ते क्या ख़ाक, उनकी सूरत देखते ही हमलोगों के देवता कूच कर जाते। मारे भय और आतंक के दम पर दम हमलोगों को पेशाब ही जारी रहता। हम छोटे दुधमुँहे बच्चों को इस कदर बेरहमी से मार-मार कर, हमपर इन्होंने अपना त्रास जमा रखा था।

वृद्ध और जर्जर होने पर भी, उनकी वह आँखों का खड्ढ और पिचके गालों का गड्ढा कभी सुर्मे और गिल्लौरियों से खाली नहीं रहता।

खोपड़ी वे हर जुम्मे को उस्तरे से साफ़ कराते, और तोंद तक लटकने वाले अपने लम्बे "दाढ़म् दाढ़ा" को नारंगी रंग से पेन्ट करते। पैरों में वह बड़ी फान का पायजामा पहनते थे, जिसमें बकरी के दो बच्चे आसानी से छिपा दिये जा सकते थे। बदन पर डबल "घाँघरेदार" हाजीनुमा कुर्ता पहनते, जो उनके उस कुम्भकर्णी काया को गले से लेकर पिंडलियों तक को तोपे रहता और कभी-कभी जब हवा उस 'घाँघरेदार' कुर्ते में घुस जाती तो घन्टों उसी में बिलबिलाती रहती, और उसकी बिलबिलाहट से मौलवी साहब का वह "पौरियानुमा" कुर्ता, पैर की ओर से थोड़ा उठकर वैरागियों की बड़ी छत्री "मेघाडम्बर" का रूप धारण कर लेता। उस समय श्री० मौलवी साहब ऐसे सुशोभित होते, जैसे वे किसी महफिल में पूरे पैमाने से "छूम-छूननन" कर रहे हों और ताबड़तोड़ चक्कर काट रहे हों।

मुर्गे की वाङ्ग सुनते ही आप विस्तर छोड़ ऊँटों की तरह पश्चिम की ओर हाथों में बँधना डोरी लिये भागते। फिर नित्यक्रिया से निश्चिन्त हो, नाश्ता पानी से छुट्टी पा हमलोगों के कपार खाने जुट पड़ते। निखट्टू तो ऐसे थे कि न किसी से जान-पहिचान, न किसी के घर आना-जाना, बारहो घण्टा हमलोगों को रटाते रहते। घोखो और खूब घोखो (मश्क-कण्ठस्थ करो) हाथ पैर तोड़कर एक जगह बैठे-बैठे, दीवानों की तरह झूम-झूम कर "अलिफ" "बे" को गले के नीचे उतार जाओ। छुट्टी के समय इनकी खिदमतें करो, जरा कभी दम को फ़ुर्सत नहीं। पढ़ते-पढ़ते—रटते-रटते कण्ठ सूखने पर जरा चुप रहो, या काम करते-करते थक कर तनिक दम लो, तो,—बापरे–! बेंत वर्षा की तुमुल झड़ी! खैर, किसी तरह कुछ दिनों तक हमलोग मौलवी साहब के इन नादिरशाही जुल्मों को बर्दाश्त करते रहे, पर कितना बर्दाश्त करते, मनुष्य होने के कारण इस पशुवत व्यापार से ऊब उठना भी अवश्यमभावी था। आखिर एक दिन हमलोगों की "शुभ समिति"

की पहली बैठक हुई, जिसमें सर्वसम्मति से यह निश्चित हुआ कि 'किसी तरह इस नर पिचास मौलवी को भगा दें"। कार्यक्रम का भार, क्रम से शंकर, श्याम, रघुबर और मुझपर पड़ा। शंकर हम सबों में बड़ा था, और था अव्वल दर्जे का शरारती! रोज ही उसके दिमागे-जौहर से नई-नई बदमाशियाँ ईजाद होने लगीं। मैं सबों से छोटा था, इसलिये मौलवी साहब मुझपर बहुत कम सन्देह करते। इस हेतु आविष्कारकर्ता वे लोग और कार्यकर्ता मैं नियुक्त हुआ। कार्यक्रम जोरो शोर से कार्यरूप में परिणत होने लगा।

एक रोज हमलोगों को मौलवी साहब उर्दू की बरतावनी पढ़ा रहे थे!—मजा तो यह कि कम्बखत पढ़ाता बहुत कम—पान लाओ, चिलम लाओ, बर्तन मलो, पायजामा साफ करो, बिस्तर लगाओ, अजी साहब, कितने कामों को गिनाऊँ, आसमाँ के सितारे गिनने आसान हैं, हमारे मौलवी साहब के कार्यों की गणना के सामने। हमारे दिन उनकी खिदमतगारी में ही गुजरते, दैवात् कुछ पढ़ा दिया तो पढ़ गये, तिसपर भी सबक याद न होने पर छड़ियों की महामार से पीठ बिचारी को पिलपिली कर देता।

शङ्कर के कान जोरों से उमेठकर मौलवी साहब बोले—"जाओ बदमाश सूअर!" यह तो हमलोगों के 'राशि' नाम थे—"जल्द पान लाओ।" शङ्कर बिचारा मन-ही-मन सैकड़ों गालियाँ बकता, अपने कान सहलाता चला गया, और थोड़ी देर में दो डबल-डबल बीड़े, लिये आया। मौलवी साहब अपनी लम्बी नासिका सिकोड़ कर अपने उग्र दशनों से ताम्बूल चर्बन करने लगे। प्रायः घण्टे भर बाद उनकी धँसी आँखें, मानिन्द खून के सूर्ख हो गईं और वे मतवाले हाथियों की नाईं झूमने लगे, फिर वे बड़ी बेचैनी से बोले—"अरे, देखो-देखो बड़ा गजब हुआ, मेरे खोपड़े में जैसे आग सुलग रही है। कमबख्तों, जल्द, बहुत जल्द बुझाओ! बुझाओ!! हमलोगों ने

भी इस नायाब मौके को हाथों से निकल जाने देना मुनासिब न समझा। लपक कर खोपड़े के निकट दौड़े, कहाँ आग और कहाँ पानी। मगर हम, सब-के सब बेहद घबड़ा कर एक ही स्वर से बोल पड़े—"ओफ हो! अरे गजब हो गया मौलवी साहब! आपके सर में ज्वालामुखी फूटना चाहता है।"

—"अरे जल्दी कर नामाकूल!" बौखलाए से मौलवी साहब बोले।

फिर क्या था, आग बुझाने के लिये उस छिली-छाली खोपड़ी पर तड़ातड़ चाटें बरसने लगे। इधर चाटें की गर्मी, और उधर ताम्बूल मिश्रित धतूरे के बीज की गर्मी! घृताहुति हो गया। मौलवी साहब झपटकर दालान के आँगन में आए और लगे दनादन अपने कपड़ों को उतार-उतारकर फेंकने। सिर्फ एक लुङ्गी कमर में लपेटे वे जेठ के कुत्तों की तरह हफर-हफर हाँफ रहे थे। मारे गर्मी के उनके ओठ कण्ठ सूखकर काँटे हो गये थे। "उफ! उफ!! वो आया, वह भागा, आ हः हः हः" इत्यादि अनर्गल आलाप करते, पागलों की नाईं सारे आँगन में वे चक्कर काट रहे थे। लोगों की ठट्ट-सी लग गई। इसी मौके पर मुहल्ले के दो-चार बदमाश लौंडे जुट पड़े और वे लगे मौलवी साहब पर धूल झोंक-झोंककर भागने। हमलोग भला क्यों चूकते? हमलोगों ने भी अपने गुस्से को विधिवत ठंढा किया। तीन दिन तक नशे की खुमारी बनी रही। इधर हमलोगों ने अपने माता पिता और टोले मुहल्ले में यह प्रचार कर दिया कि—"मौलवी साहब पर बड़े पीर की सवारी आती है, और अक्सर इनकी हालत ऐसी ही हो जाया करती है।" चलो छुट्टी हुई, चोरी भी की, और बेदाग बच भी निकले।

चौथे रोज हम लोग मौलवी साहब के सामने पेश किये गये। मौलवी साहब हमलोगों की सूरत देखते ही आग-बबूला हो चिल्ला पड़े—"बदमाश के बच्चों! ठहरो-ठहरो, तुम लोगों की हजामत बनाता

हूँ, लाओ, सबक़ सुनाओ !" हमलोग अत्यन्त नम्रतापूर्वक सहानुभूतिपूर्ण स्वरों में बोले—"हुजूर आज चौथे रोज, हमलोग हुजूर में हाजिर हो रहे हैं। उस रोज जो हुजूर पर बड़े पीर की चढ़ाई हुई थी, उसके तईं हमलोग अफसोस—सद्-अफसोस जाहिर करते हैं और साथ ही बड़े पीर को भी लानत-मलामत भेजते हैं कि आप जैसे एक बुजुर्ग शख्श को इस बुढ़ौती के जमाने में बड़े पीर को इतना तङ्ग वो तकलीफ देना हरगिज लाजिम नहीं था।"

"जी अच्छा, आपकी इस हमदर्दी के लिये मैं भी बेहद शुक्र-गुजार हूँ और तुरन्त ही आप पर भी बड़े पीर की आमद होती है।" कहते हुए वह हृदयहीन मौलवी दानवी चीत्कार मारकर हमलोगों पर भूखे बाघ की भाँति टूट पड़ा, और हमलोगों के कान पकड़-पकड़ कर बटेर-बगरे की तरह जमीन पर पटकने लगा। मेरी केहुँनी छिल गई, श्मामू का घूटना टूट गया, शङ्कर का सर फूट गया। मुझे रोते देख मेरी रङ्गीली दाई मुझे चुप कराने के लिये मेरे पास आई। उसकी मोहनी मूरत देखते ही जनाव मौलवी साहब की लार टपक पड़ी। मैंने कनखियों से देखा, मौलवी साहब उसे मुहब्बत भरी निगाहों से घूर रहे हैं। उनकी झुर्रियाँयुक्त सूरत की नसें, ताँत की तरह तनकर लाल हो गई थीं। वे बड़े रसभरे कण्ठ से निहायत शीरी आवाज में बोले—"जाओ, छोड़ दे रहा हूँ, तुम सब-के-सब पक्के खिलाड़ी और शैतान हो।"—रङ्गीली अपने नैन बाणों से मौलवी साहब को घायल करती हुई चली गई। अब तो मौलवी साहब इसके पीछे बेतरह पड़े। सबों को छुट्टी देने के बाद भी मुझे बिठाए रहे। मैं मन-ही-मन ईश्वर को याद करता रहा—"या मेरे भगवान बचाइयो इस राक्षस से।" मारे डर के मैं सूखकर दो अङ्गुल का हो गया था। किन्तु बात दूसरी ही थी, मौलवी साहब बड़े प्यार से मुझे अपने निकट बिठाकर बोले—"बच्चू अब हम तुम्हें कभी नहीं मारेंगे, काबेरुख होकर कहते हैं।

मगर—ए-ए एक-एक बात-(इधर उधर देखकर) देखो एक बात है, खबरदार किसी से कहना नहीं अच्छा! समझा!" मैंने धीरे से स्वीकृति सूचक सर हिला दिया। अब मौलवी साहब बड़ी प्रसन्नता से मेरी पीठ ठोंकते हुए बोले—"सुनो, यह जो तुम्हारी दाई है न, रङ्गीली, इसे तुम रोज मेरे नजदीक किसी-न-किसी बहाने जरूर भेज दिया करो।" "जी अच्छा!" कहकर मैंने अपनी किताबें उठाईं, और मन ही मन भगवान को असंख्य धन्यवाद देता हुआ घर की ओर भागा।

उस रोज रात को मौलवी साहब के खाने की बारी मेरे ही यहाँ थी। शङ्कर खाना लाने गया, और मैं दस्तरख्वान बिछा रहा था। इतने में शङ्कर खाना लेकर आया और मुझे थाल थमाकर आप पान बनाने चला गया। मौलवी साहब चटपट हाथ मुँह धो, वजू-वगैरह से पाक् फरागत हो दस्तरख्वान पर आ बैठे, और ताबड़तोड़ चम्मच से दाल, भात में उलीच-उलीचकर लगे हींड़ने और बड़ा बड़ा कौर मुख में धकेलने। पर यह क्या? एक ही ग्रास के बाद "ओ-ओ" कर सब भात फेंकते हुए बोले—"अख्-थूः! अख्-थूः, नमक—! नमक! अख् इतना तेज नमक! सारा खाना जहर हो गया है।" (घर से खाना लाते हुए रास्ते में शङ्कर ने दाल में एक मुट्ठी नमक छोड़ दी थी) मैं तो इस कदर सिटपिटाया, जैसे शेर को देखकर बकरी। कहीं मुझपर ही मौलवी साहब न बिगड़ें कि इसी की शरारत है! हाय-हाय!! हुआ भी वही, शैतान अपने वादों को भूलकर दो कोड़ी मुझे और साढ़े सत्रह गण्डे शङ्कर को चपतें लगा दीं। फिर तो बेतरह आग भड़की, हमलोग तो घर भागे, और हजरत मौलवी साहब ने अल्लाह-अल्लाह कर रात काटी।

मेरी दाई रङ्गीली पटने की दाइयों में से थी। वह नित्य नई-नई साड़ियाँ पहनती, इधर-उधर इठलाती फिरती थी। हमलोगों की "समिति

की दूसरो बैठक हुई, जिसमें यह तय पाया कि हमलोग रङ्गीली के द्वारा इस शैतान को यहाँ से भगा दें।" हमलोगों ने दो-चार पैसे के लोभ-लालच दिखा रङ्गीली को हाथों का खिलौना बना लिया। फिर तो वह एक-एक इशारे पर सौ-सौ करामात दिखाने लगी। हमलोग हमेशा उसे मौलवी साहब के पास भेज दिया करते, और वह उनसे भी तरह-तरह की बातें बना, चोचले दिखला, कुछ जट ही लाती।

बाबू जी किसी कार्यवश छपरे गये, और इधर हमलोगों को सोलह आने आजादी मिल गई। फिर क्या था, "समिति" ने इसी रात्रि को अपने स्वीकृत प्रस्ताव को कार्यरूप में लाना चाहा। रङ्गीली को बुलाकर सारा प्रोग्राम उसे समझा दिया गया। १) रु० नकद पेशगी देकर कहा गया कि काम होने पर ५) रु० की साड़ी इनाम में और दी जाएगी। रङ्गीली परम सन्तुष्ट हो हमलोगों के कार्यसाधन में जुट पड़ी।

देखते-देखते रात्रि हो गई। शुभ्र चन्द्रलोक में चाँदनी जगमगा रही थी। रसीली पृथ्वी की गोद में, सुन्दरी ज्योत्स्ना लोट-लोट कर निहाल हो रही थी। जमाना गर्मी का था, हमलोग दालान के आँगन में खाट बिछाकर डट गये। हमलोगों के बगल में ही हजरत मौलवी साहब की खाट बिछी थी। भोजनोपरान्त मौलवी साहब भी अपनी खाट पर ढेर हो गये, मगर हमलोगों की मौजूदगी उन्हें सख्त नागवार मालूम हुई, अतएव वे कुछ प्रेममिश्रित क्रोध से बोले—"बच्चू! तुम यहाँ क्यों सोये हो? जानते नहीं तुमलोग अभी बिल्कुल नादान बच्चे हो। सरेआम बाहर सोना, रात का मुकाम, जिन्नातों के सफर का वक्त, अगर कुछ हो गया तो भारी मुश्किल होगी। हमलोगों का क्या? बूढ़े आदमी पके आम हैं, कब गिर पड़ेंगे, क्या ठिकाना! जाओ तुम लोग घर में सो रहो।"

मैंने काँपते कण्ठ से कहा—"हुजूर माँ ने कहा है, बाबूजी छपरे

गये हैं, दरवाजे पर कोई नहीं है, तुम शंकर वगैरह को लेकर दरवाजे पर सो रहो।"

अब भला माँ के हुक्म के खिलाफ मौलवी साहब के पीर को भी बोलने की हिम्मत न थी। हालतें मजबूरी में क्या करते, बिचारे चुप रह गये। हमलोगों ने कुछ देर बाद बनावटी खर्राटे भरने शुरू किये। एक-एक करके एक घण्टा बीता, दो घण्टा बीता, न जाने क्या मौलवीसाहब मन ही मन बुद्बुदाते रहे, फिर कुछ जोर-जोर से बोलने लगे—"हैं ? कमबख्त, अभी तक लापता है, आज सवेरे ही दो रुपये ले गई, और इन्शाअल्ला आज अगर न आई तो फिर ऐसा नायाब मौका मिलने का नहीं। ऊफ! अब तो मिनट-मिनट की भी देर बर्दाश्त नहीं होती, सचमुच सुसरी इन्तजार बड़ी बला है।" मौलवी-साहब मन ही मन इन्तेजारी का रोना रो ही रहे थे कि इतने में छम्-छम् करती हुई रंगीली लचकती मटकती आ पहुँची। अब तो मुराद वर आयी, और हमारे मौलवीसाहब जमीन से ही बहिश्त के मजे दोनों हाथों लूटने लगे। बड़े प्यार से उन्होंने रंगीली को बुलाया। रंगीली ने भी जरा इधर-उधर लचक कर इन्हें बेचैन कर दिया। हमारे मौलवी साहब रंगीली के विशेषाग्रह से बिल्कुल नङ्गे बदन कोठरी में घुसे। रंगीली थोड़ी ही देर बाद बाहर निकली। जञ्जीर चढ़ाकर हमलोगों के निकट आई, और हमें सावधान कर घर भागी। सामान दुरुस्त है, यह जानकर हमलोग बड़े प्रसन्न हुए। फिर पहले के निश्चयानुसार श्यामू बोला—"अजी सुनते हो तुमलोग, मौलवीसाहब यहाँ पर नहीं हैं, न जाने किधर को चले गये। अब यहाँ हमलोग खाली दुधमुँहे बच्चे रह गये हैं। मौलवीसाहब पर बड़े पीर का साया है। उन्हें भूत-भविष्य सब मालूम रहता है, जरूर आज कोई जीन आने वाला है, तभी वे यहाँ से टल गये हैं ताकि उनपर कोई इल्जाम न लगे। बेहतर है हमलोग भी चलकर घर में सो रहें भाई, नहीं तो न जाने क्या हो ?

इतने में रघुबर घबरायी हुई आवाज में बोल उठा--"ए--ए-!! अरे देखते हो कुछ ? खपरैल पर चुड़ैल बैठी है।"

"हाय! हाय !!" कर मैं चीख पड़ा। सबके सब घबरा उठे, और सामान ले-लेकर घर भागने लगे। अपने तो अपने, मौलवी साहब के भी सारे बिस्तर कपड़े, यहाँ तक कि चौकी का टाट भी सब एक-एक घर में रख दिये। अब मौलवी साहब हमारे इस भयानक षड़यंत्र से बेतरह घबराए--"या खुदा, यदि मालिक कल सबेरे छपरे से आयें, और मुझे इस हालत में देखें, तो कौन सी जिल्लत उठानी पड़ेगी, अल्लाह ही मियाँ जानें ?" बिचारे मौलवी साहब बड़ी ही दीनार्त्त वाणी में गिड़गिड़ाकर बोले--"शंकर बाबू! अरे--ए--बाबू शंकर प्रसाद! अजी मैं यहाँ हूँ, इस कोठरी में बन्द हूँ। भाई, खुदा हाफिज! मुझे किसी तरह बाहर निकालो।" शंकर हँसी रोक के कड़क कर बोला--"कौन है वे! वेहया चोर! साला भूत, मैं तेरे को खूब पहचान रहा हूँ।"

मौलवी साहब पुनः उसी स्वर में बोले--"अरे भाई मैं-हूँ, मैं तुम्हारा मौलवी, गुलमुहम्मद, न जाने किस शैतान ने मुझे सोते से उठा कर इसमें बन्द कर दिया है। आह मारे गर्मी के दम घुटा जा रहा है। मेरे प्यारे बच्चों! मैं कसम खाकर कहता हूँ, अगर आकर मुझे इस आफत से उबार लोगे तो ताउम्र तुम लोगों के गुन गाऊँगा और ब-खुदा कभी एक दूब के तिनके से भी न छूऊँगा।"

शंकर--"अच्छा, यदि आप हमारे मौलवी साहब ही हैं, और हमलोग लड़के आदमी डर रहें हैं तो जैसे आपने इतनी देर तकलीफ की दो चार मिनट और रुकिए, हमलोग मुहल्ले के दो चार आदमी को बुलालें।"

मौलवी साहब बेतरह घबराये से बोले--"अरे हाय-हाय !! तुमक्या करते हो, क्या मेरी आवाज भी तुम लोगों से पहिचानी नहीं जाती ? ब-

खुदा, मैं तुम्हारा मौलवी हूँ आज मैंने तुम्हें "गुलिस्तां" पढ़ाया है। खोलो-खोलो जल्दी करो।"

श्याम उपेक्षापूर्वक शंकर से बोला—"अरे यार किस चकमें में पड़े हो। भूत प्रेत इसी प्रकार झूठ-मूठ निशान-पते बताकर लोगों को पकड़ते हैं। उन्हें सब बातें मालूम रहती हैं, आज बड़े मौके से जीन हाथों आया है, चलो लोगों को बुला लावें।"

रघुबर ने कहा—"भाई शंकर! श्याम सोलह आने सच कह रहा है। हलखोरिया की माँ को इसी तरह झूठ नाम-पता बताकर ब्रह्मपिचास ने घर दबाया था, बगैर लोगों के बुलाए, प्रेत के कहने के बहकावे में आकर किवाड़ खोल देना खतरे से खाली नहीं है।"

शंकर—"तो चलो मुहल्ले वालों को बुला लाएँ।"

सब—"हाँ,हाँ, चलो चलो।"

हाय हाय! मौलवी साहब तड़ातड़ किवाड़ के पल्लों को पीट-पीट कर दुहाई देने लगे। कई बार "कुरआन" की आयतें बड़बड़ा गये। किन्तु सब बेकार, खोटे दिन में अमृत भी विष हो जाता है। आवाज देते देते बिचारे का कंठ सूख गया। किन्तु सुनता कौन? रंगीली के स्पर्श का पाप, हम निरीह निर्दोष बालकों पर राक्षसी अत्याचार के पाप, सब एक ही साथ फूट पड़े। देखते-देखते लोगों की खासी भीड़ इकट्ठी हो गई। "कहाँ जिन है! किधर भूत है?" का गगनभेदी कुहराम मच गया। निदान कोठरी का किवाड़ा खुला, और उसमें से एक लम्बा-तड़ङ्गा नङ्ग-धड़ङ्ग, दाढ़ीवाला महाप्रेत निकला।" मारो-मारो" बड़ा जबरदस्त जिन्न है! बिना मारे न छोड़ो।" एक ही साथ बीसियों कण्ठ से यह ललकार ध्वनि निकली। मौलवी साहब कोठरी से निकलते ही अपनी खाट की ओर कपड़े पहनने के लिए भागे, किन्तु वहाँ उन्हें कपड़ा नहीं मिला, तब बिचारे हताश हो पागल की तरह कपड़ों की तलाश में इधर उधर भागने लगे, मगर वहाँ तो कपड़ा क्या एक सूत का धागा

तक हमलोगों ने नहीं छोड़ रखा था। इतने में हमलोग चिल्ला पड़े "हाय-हाय भूत भागना चाहता है।" फिर तो झुण्ड के झुण्ड लोग उन पर टूट पड़े, और इतनी मार पड़ी की मौलवी साहब चित्त हो गये। सब लोगों के चले जाने के बाद मौलवीसाहब ने मुझसे कहा—"बच्चू मेरी लुङ्गी ला दो।" मैंने लुङ्गी, आइना और लालटेन लाकरमौलवी साहब के सम्मुख रख दिया। जब आइने में मौलवी साहब ने अपनी सूरत देखी तो बड़ी कातरतापूर्वक बोले—वेशक रङ्गीली ने मेरी सूरत "जिन्दा भूत" की तरह बना दी है। अपनी मर्यादा और गौरव के विरुद्ध चलनेवालों और वेकसूर विद्यार्थी, बच्चों पर जुल्मों-सितम करनेवालों की यही गत होती है।" फिर वे करुणार्द्र हो रुदनास्फुट स्वर में बोले—"प्यारे बच्चों मुझे म्वाफ करना, मैं चलता हूँ।" और वे चले गये, तब से आजतक न आये।

यह "जिन्दा भूत" की कहानी मनोरञ्जक और विनोदी होने पर भी कितनी दयनीय और करुणापूर्ण है।

७

प्रणय प्रतियोगिता—

"आजारे मुहब्बत से लिल्लाह बचायें, वह गम न दिखायें।
यह मर्ज वो है कि न इसकी कोई दवा है, बेकार दोआ है॥

(कोई अज्ञात कवि)

और बाबा सूरदास ने भी कहा है "प्रीति करि काहू सुख न

लह्यौ ।" किसी बङ्ग कवि ने भी कहा है "के बोले, जे पीरिति भाल" इसी प्रकार और कितने बड़े-बड़े महापुरुषों, महात्माओं और कवियों ने भी "प्रेम" को या इश्को-मुहब्बत को सर्वथा निम्न, निंद्य और त्यक्त ही बतलाया है। मगर ताज्जुब यह है कि इस अनादि काल से सतत भर्त्सित, निन्दित प्रेम का एक छत्राधिकार, दुनियाँ जब से दुनियाँ के रूप में प्रकट हुई, तभी से जमा-जमाया चला आ रहा है, और निन्दाओं की गोलाबारी इसके मजबूत किले की एक ईंट भी टस से मस न कर सकी। दुनियाँ की हर तवारीखों के पन्ने पर चाहे वे पुराण शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हों, या हदीस इंजील के, सब में इश्की दुनियाँ की सुखद और दुःखद चर्चा जरूर है। हम देखते हैं दावाग्नि को भी पलमात्र में निगल जानेवाले ऋषि और पुरन्दर को भी परास्त करने की शक्ति-सम्पन्न महाराजधिराज, "विश्वमोहिनी" "मेनका" "शकुन्तला" और "कैकेयी" की इश्क में अपना आपा खो बैठे हैं। वीर नेपोलियन हेलेन की इश्क में बेजार था, तो मुगल सम्राट् जहाँगीर "नूरजहाँ" पर बेकरार था। यह आतिशे-इश्क जो बाबा आदम और हौआ के समय से सुलगी तो आजतक न बुझी और इसमें मूर्ख विद्वान, गुणी-अगुणी, सब जले, सब जूझे।

लेहाजा ऐसी प्रचण्ड शक्ति-सम्पन्न, महामहिम महिमा-प्रयुक्त प्रेम के चपेटे में यदि मुंशी चमारीलाल जी पड़कर पामालो लाचार हो जाएँ तो कोई ताज्जुब और शर्म की बात नहीं हैं। हाँ, दुनियाँ नुक्ताचीनी करती ही है, वह हल्वे में भी कंकड़ ढूँढ़ा करती है, पुण्य में भी पाप खोज मारती है। मगर इसका एलाज, दुनियाँ वालों की इस बेढङ्गी मगजमारी का प्रतिकार मुंशी चमारीलाल के पास था ही क्या, एक अक्खड़ प्रणय-योद्धा की तरह इनकी "चाँय-चाँय" इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते और जैसे मस्त गजराज कुत्तों के "भों-भों" की कुछ भी पर्वाह नहीं करता, उसी प्रकार यह प्रेम का हस्ती भी

दुनियाँ वालों की "टाँय-फिस्स" की पर्वाह नहीं करता—और प्रेमीजन करते भी नहीं।

दुनियाँ वालों का उनपर यह "रिमार्क" अथवा यह कलाम कि "८० और ५ = ८५, वर्ष की अवस्था में इश्क करना पक्की शैतानियत है, चूँकि यह वक्त तो यादेखुदा का है" सरासर रद्दो-वातिल है। इश्क का न कोई खास समय निश्चित है, न अवस्था, वह तो एक बीमारी है, चाहे जब छू जाए। फिर माननीय मुंशी जी के शब्दों में—"उनका न शरीर वृद्ध हुआ था न हृदय!" उनमें तो अभी वही हसरतों का हजूम, तमन्नाओं का तार, अरमानों की भीड़ सोनपुर के मेले की तरह लगी है।

कुछ लोगों का यह आरोप है कि यदि उन्हें आशिक ही होना था तो किसी हसीन, खूबरु, और रूखेअनवर पर होते। यह, बम्भोलिया दुसाध की बेटी "रमकलिया" जिसका नाम राम—मुँह कुक्कुर ऐसा" का सप्राण प्रमाण है। गिलहरी की पूँछ जैसे छोटे रुखड़े और मैले केश, जिसमें "ढील" और "चिल्लरों" ने बादमुद्दत से अपना बसेरा बनाया है, बेङ्गुची जैसी छोटी और धँसी आँखे, जिनके दोनों कोर में शाश्वत काल से कीचड़ों ने अपना अड्डा जमाया है, स्लीपर की "टो" की तरह चिपटी नाक, जिसमें सदा श्वेत मुक्ता-सा बुलाकवत "नेटा" लटकायमान रहता है, नाटी-खोटी, काली-कलूटी, जब उसके कोयले की तरह काले मुखड़े में चिपके होठ खुलकर हास्य की अरुणाभा फैलाते हैं, तब मालूम होता है, जैसे टिकिया सुलग रही हो। जिस समय वह अपने बाहु-मूल तक सीमित कुर्त्ते से—जिसे "झुल्ला" कहा जाता है—साबूदाने के तुल्य नन्हें-नन्हें दाने वाले सुफैद-सुफैद चिल्लर तत्त्वदर्शियों की नाईं, एकाग्रचित्त और वैज्ञानिकों की तरह व्यग्र हो ढूँढ़-ढूँढ़कर उन्हें खुफिया पुलिस की भाँति गुप्तरूपेण गिरफ्तार करती है, और अपने नाखून की बधभूमि में नादिरशाह-सा

कत्लेआम करने लगती है, और अपने इस कार्य साफल्य एवं विजयोपलब्धि पर घोर हर्षातिरेक से वह परम विह्वल हो "हीः-हीः-हीः" कर, वही टिकिया सुलगने की नयनाभिराम शोभा उपस्थित करती है, उस समय दुनिया वाले मारे घृणा और नफरत के नाकें सिकोड़ कर, उसकी ओर से निगाहें फेर कलेजे का थूक हलक में उतार कर बड़ी जोर से—आख्-आख्-थूः—!" करते हैं। पर इसके लिये मुंशी चमारीलाल क्या करें ? मुझे फिर उनके लफ्जों को दुहराने की मजबूरी हुई—"यह दुनियाँ वालों के दिमाग की खराबी ही है, जो अच्छी चीज उनकी पहचान में नहीं आती।"

"रमकलिया", १४ गिरह अरजवाली जापानी साड़ी, जो उसकी फिल्ली से डेढ़ बालिस्त ऊपर को ही रहती, जो इसके शरीर पर सुशोभित होने के दिन से, फटकर चिथड़े के रूप में होने की अवस्था तक, जो धोबी के "पटक-पटक" और "भट्टी" की आँच और जाड़े के जल की मुसीबत से बराबर वञ्चित रही; ऐसी सुन्दर, मनमोहक और साफ सुथरी (!) साड़ी धारण कर, अपने सर में उगी झल्लाँस की भाँति सूखी तथा "जटावत्" एक में एक सटी-चिपकी रूक्ष केशराशि में घिरे "ढील (जूँ) और चिल्लर" महाभारत की शान्ति शमनार्थ, अपने खुर्पे जैसे नखों से खँखोरते, बिल्कुल उनके "वार-फील्ड" यानी सर को ही नोच फेंकने की सतत चेष्टा में लीन, जिस गली-कूचे मे निकल जाती, जान पड़ता भूतखाने का मुलाजिम गश्त को निकल पड़ा है। घुचुर-घुचुर नेत्रों से जब वह अपने सूर्प-दन्तों को विदोर-विदोरकर मृदुमुस्कान (!) छोड़ती, कटाक्ष करती, उस समय लोगों के दिल तो नहीं पर दिमाग मारे घबराहट के जरूर खराब हो जाते। रमकलिया को देखकर लोगों के दिलो-दिमाग दोनों ही में घोर घृणा का विकराल बवण्डर क्यों न उठने लगे, पर इसके लिये मुंशी चमारीलाल जी जिस-तिस के चौखटों पर नाक रगड़ते चलते !

उनके दिलो-दिमाग में रमकलिया की हसीन सूरत की जो फोटू नक्स थी, दुनियाँ वालों की अन्धी आँख उसे कहाँ देख पाती थी।

श्री मुंशी जी—*"काले गोरे से कुछ नहीं मंजूर,*
दिल आने के और ढब हैं।"

इस शायरी कलाम की वे जीती जागती वो चलती-फिरती नजीर थे। रोज ही खूब अपने को सजाते, धँसी और निस्तेज आँखों में सुर्मे की बारीक लकीर, पोपले और पिचके जबड़े में पानों की गिल्लौरियाँ तथा सन की तरह सुफैद बालों में, सुबह दोपहर शाम तीनों जून खिजाब की गोताई यानी पेंटिङ्ग कर जब वे छैला का स्वाङ्ग बनाकर, मूँछे मरोड़ते निकल जाते तो सर्कस वाले जोकर क्या खाकर हँसायेंगे, जितना मुंशी जी की यह शकल, यह फबन लोगों को लोटन-कबूतर बना देती। मगर सद्-अफसोस! इतने साजो-सामान, ऐसी झाड़ो-बुहार और मरम्मत पर भी रमकलिया मुतलक मुखातिब नहीं होती। यह तो इश्की दुनियाँ की खूबी है—

"हुए जुदाई में तेरे बेखुद कभी न पूछा कि हाल क्या है।
कहा जो मैंने कि हाय जालिम, मरा मैं फुर्कत में तेरे इस दम।
तो बोले मरता है हरएक आलम, तुम्हीं मरो तो कमाल क्या है॥"

मगर इस दर्दे-इश्क के तपेअलम में जिगर को कबाब की तरह भून करके खाने में भी जो मजा, जैसी मधुरता प्रेमी-हृदय श्री मुंशी जी अनुभव करते थे उसे समझने के लिये दुनियाँ वालों को न अकल थी, न तमीज और न शऊर। रमकलिया की अत्युच्च सौन्दर्य-महिमा की गुणगाथा केवल इतना ही कह देने से चाँद-सूरज की तरह रौशन और काफी हो जाता है, कि उसके तीरे-नजरों के निशाने थे उस महानगर के तीन आदमी। एक तो स्वयं साक्षात् मुंशी जी और दूसरे मौलाना मकरूल्लाहअली आलिम फाजिल, तीसरा बड़कुआ, पदत्राण कलाकार। इन तीनों सुचतुरों, सुगुणियों एवं परम प्रेमीजनों की उस

सारे नगर में एकमात्र प्रेयसी "रमकलिया" ही थी, और उस सारे नगर में ऐसी कोई भाग्यवान सुन्दरी न थी जो इन काबिल दिमागों को अपनी ओर रूजू कर सके। इन तीनों प्रबल प्रेमियों में बड़कुआ सबसे सौभाग्यवान था, क्योंकि "रमकलिया" की रहमो-करम उसपर काफी से भी ज्यादा थी, इसका कारण यह था, कि बड़कुआ उसके सुकोमोल पाद-पद्मों के धारणार्थ भैंस की मजबूत चमड़ी की चट्टी बना देता, जिसे पहन कर वह जेठ की कड़ी धूप में गोबर और सूखी लकड़ी चुनने ब-आराम जाया करती। और कभी-कभी बड़कुआ भी उसके इस बन-विहार में योगदान दे, उसके लिये गोबर, लकड़ी चुन-चुनकर, उसका कृपाभाजन बना करता। बड़कुआ चमार, और यह दुसाध, जोड़ी बनी बनाई थी। "खरबूजे को देखकर ही खरबूजा रङ्ग बदलता है" मगर इसमें "दाल भात में मूसरचन्द" की तरह जो मुंशी और मौलाना कूद पड़े थे, वे सदा गमेफुर्कत का रोना रोया करें तो क्या आश्चर्य? बौना छौंक कर चाँद छूने की चेष्टा में असफल हो भहराकर मुँह के बल गिरके अपना थुथना तोड़ ले, तो यह मूर्खता उसकी है "चाँद" की नहीं।

मुंशी और मौलाना दोनों ही बिचारे एक दर्द के शिकार थे। उन्हें बड़कुआ के सौभाग्य पर जलन, ईर्ष्या होती थी, पर जब रमकलिया ही उसपर सौ जान निसार थी तो बड़कुआ का क्या कसूर? मौलना का जब-जब रमकलिया से अकेले में मुलाकात हुई, रकीबों से होनेवाले दर्दे दिल के हजारों अशआर उसे सुना मारे, पर वह ऐसी बुते-बेपीर निकली कि उसने मौलाना की अशआर बयानी की ओर मुतलक ख्याल न फरमाया। वह सर्र-सर्र भागी जाती और मौलाना उसे अशआर सुनाते-सुनाते तब तक रगेद मारते, जबतक कि कोई दूसरे तीसरे लोग नजर न आ जाते। इधर श्री० मुंशीजी को अपनी खुशनुमा सूरत पर, अपने साजो शृङ्गार पर, हिमालय की भाँति

अटल विश्वास था, कि "जहाँ क्षणभर भी उसने बगौर मेरी शकल देखी कि फिर तो पालतू पिल्ली बन जाएगी।" जब 'रमकलिया' को देखते, उसकी राह रोक-रोक अपनी सूरत दिखाने की पुरजोर कोशिश करते, परन्तु वह पाषाण-हृदया प्रेयसी कतराकर निकल भागने के लिये पिञ्जरे में पड़े पक्षी की तरह जोर मारती, और अन्ततः जब मुँठभेड़ होने की नौबत आती, तो "रमकलिया" या तो "बप्पारे" कहकर चीख उठती, या बीच राह में लोट-लोट कर रोने लग जाती। पुलिस के डर से तथा जगनिन्दा के भय से मुंशीजी भाग खड़े होते। बेचारे को अपनी मोहनी मूरत दिखलाने का मौका ही नहीं मिलता। इसी प्रकार मौलाना को शेर सुनाते और मुंशीजी का अपना रूप दिखालाने की चेष्टा करते-करते तीन साल यानी ३६ माह की लम्बी अवधि समाप्त हो गई, फिर भी मुराद पूरी न हुई और दिल की दिल ही में तीर की तरह चुभती रही।

आखिर बिचारे दर्देइश्क को, जिसे दुनियाँ के बड़े-बड़े वीर-धीर और पहलवान भी नहीं बर्दाश्त कर सके—एक युगल वयोवृद्ध प्रेमीजन कबतक सहन करते। एकदिन दोंनों ही दोपहर में निकल पड़े। मुंशी जी ने उस दिन अपने को खूब सजाया और मौलाना ने शेरों की एक बहुत मोटी, लम्बी चौड़ी किताब ही ले ली। दोनों अपने-अपने मन्सूबे बाँध रहे थे। "वह चुन-चुन कर दर्दभरी आवाज में शेर सुनाऊँगा कि उसे अपनी इश्क में पागल कर दूँगा।" यह तो जनाब मौलाना के मन्सूबे थे, और मुंशीजी इस मोर्चेबन्दी में मशगूल थे—"यों लचक कर लोच से कदम रखूँगा, यों जुल्फे सँभाल-सँभाल कर शीरी आवाज में बातें करूँगा, यों अदाँ से आँखें मटकाऊँगा कि बस आज उन्हें बेहाल-बेजार कर दूँगा।" ये युगल सप्राण प्रेम-प्रतिमा अपनी-अपनी राह भगी जा रही थीं। एक दूसरे को दूसरे की खबर, प्रोग्राम, निश्चय तनिक भी मालूम न था।

एक घनी रसाल बाटिका में एक टोकरी ताजा गोबर भरकर रखा हुआ था। बड़का एक आम के वृक्ष पर चढ़कर सूखी लकड़ियाँ तोड़-तोड़ कर गिरा रहा था और प्रमुदित मन "रमकलिया" उसे चुन रही थी। परस्पर प्रणय संभाषण भी हो रहा था। मौलाना जो पहुँचे तो एक लम्बी फर्शी सलामी दागी, और कुरआन पाठ की धुन में चीख पड़े—

"परी हो मुश्तरी हो, और मह्मे तमाशा हो।
"उठाकर आइना देखो, तो मालूम हो कि तुम क्या हो?
तुम्हारे हुस्न को गुलरु गुलाब कहते हैं।
तुम्हारा चेहरा, उसे माहेताब कहते हैं॥

बड़ी ही वेदना-व्यञ्जक मुँह बनाकर मौलाना ने फिर शेरखानी शुरू की।

आह—! *तुम्हारे तीरे नजर दिल पर खाए बैठे हैं।*
उठा दर्द कलेजा दबाए बैठे हैं॥

फिर मौलाना ने सचमुच अपना जिगर थाम लिया, और सचमुच पुक्का फाड़-फाड़ कर रोने लगे।

रमकलिया घबड़ाई। आखिर इसे क्या हुआ, न जाने क्या बड़बड़ा गया फिर रोने लगा। बड़कुआ भी घबड़ाया हुआ उतरा। उसने देखा—अरे यह तो मौलाना हैं, क्या इन्हें बिच्छू ने तो नहीं काट खाया? उसने रमकलिया को ललकारा, "—क्या देखती है जल्द गोबर का टोकरा यहाँ उठा ला, और मियाँजी के सीने पर रगड़, जब तक मैं बिच्छू की जड़ी खोजने जाता हूँ।"

रमकलिया भर-भर अंजली गोबर ले लेकर मौलाना की शेरवानी पर थोपने लगी, और मौलाना सब्रोकरार के लेहजे में—"आह! अब दिल ठंढा हुआ" कहने लगे। इतने में हाँफते हुए मुंशीजी आ पहुँचे। मौलानाजी की खातिरदारी, स्पर्श, आलिङ्गन उन्होंने जो देखा तो उबल

पड़े—"क्या मैं इस इज्जत के काबिल नहीं हूँ, अरे मुझे क्या गोबर से नफरत है, लो-लो प्यारी जितनी इच्छा हो बशौक और खुशी से लगाओ।" मुन्शीजी गोबर का टोकरा लिये भाग चले, और लगे दनादन दोनों हाथों अपने सर से लेकर पाँवतक गोबर लपेटने। मौलाना ने जो देखा, अरे यह हल्वे का कंकड़ कहाँ से फट पड़ा, दौड़ कर "रमकलिया" के निकट पहुँचे और बोले—"जाने जाँ! यह तुम्हारी इश्क में बेकरार होकर गाय की लीद ही तो लपेट रहें हैं, मैं आदमी का लीद लपेट सकता हूँ, मगर अफसोस वह यहाँ काफी तायदाद में मौजूद नहीं हैं। फिर भी देखो दिल्वर, मैं तुम्हारी इश्क में क्या कर रहा हूँ।"

मौलाना ने ताबड़तोड़ अपने कपड़ों को फाड़ना शुरू किया और अमाँमा से लेकर पाजामा तक की चिथड़ी-चिथड़ी उड़ा डाली। फिर उन्होंने जोर से अपने मुँह पर आप तमाचे बरसाने शुरू किये। मौलाना की ऐसी बेढंगी रफ्तार देखकर, भीत-सी घबराई हुई रमकलिया उनके निकट पहुँची और मारे डर के रो-रो कर कहने लगी—"ऐसा मत करो-ऐसा मत करो।" माशूका की इस हमदर्दी से मौलाना का दिल और दूना हो गया। वे और दुगुने उत्साह से सूरत पर तमाचे लगाने लगे। अब मुंशी जी की नजर उस ओर गयी—"अरे यह तो कुछ चपतें अपने मुँहपर मार-मार कर ही बाजी मार ले जाना चाहता है। दौड़े वे भी, जहाँ रमकलिया खड़ी-खड़ी गिड़गिड़ाती हुई मौलाना को इस प्रणय-प्रकाशक सुचेष्टा का विरोध कर रही थी। मुन्शी जी बोले—अरे इतने ही में भूल गई, देख प्यारी, देख अपने इस सच्चे आशिक की मसक्कत?

फिर मुन्शी जी ने अपने सारे कीमती कपड़े चीथ डाले, और बल-पूर्वक रमकलिया का खर्पा (चमड़े की चट्टी) उसके पैरों से निकाल कर तड़ातड़ अपने मुँह पर लगे मारने। फटाक्! फटाक् की आवाज से सारी आम्र-बाटिका मुखरित हो उठी और दोनों प्रेमी अपने को

मारते-मारते बेदम कर रमकलिया की चुनी लकड़ियों की ढेर पर भहरा पड़े। लकड़ी बिखर गई, और "रमकलिया" घबराकर बोली--"हाय-हाय लकड़ी तो सब बर्बाद हो गई?"

लकड़ी--! लकड़ी जैसी अदनी चीज के लिए तुम क्यों बेजार होती हो प्यारी, अभी मिन्टों में मनों लकड़ी गिरा डालता हूँ।" कहते हुए मुन्शी जी दनादन एक पेड़ पर चढ़ गये।

तो मैं ही तुम्हारी खिदमतेपाक से क्यों महफूज और बरी रहूँ जानेमन! मैं तो बात की बात में बाग के सारे दरख्तों को तोड़ देने की ताकत रखता हूँ।" कहकर मौलाना भी उसी पेड़ पर चढ़ गये जिसपर मुन्शी जी चढ़ चुके थे।

पेड़ की फुनगी पर एक मामूली मोटी-सी डाल सूखी थी। युगल प्रेमियों की दृष्टि उसी पर पड़ी और दोनों ही उसे लेने ऊपर को धड़ाधड़ चढ़ने लगे। मुन्शी जी ने ज्योंही उस सूखी डाल को सर्वप्रथम तोड़ कर अपनी वीरता का सुख्यात प्राप्त करने के सुप्रयत्न किया कि लपक कर मौलाना ने भी उसे थाम लिया, आखिर बेचारे वे क्यों फिसड्डी बनते। युगल प्रेमियों में खींचातानी होने लगी, और दोनों ही ने हाथों से लकड़ी के दोनों छोर पकड़कर एक बार बड़े जोर से अपनी-अपनी ओर खींचा। सहसा डाल से पैर फिसल गया और दोनों प्रेमी लकड़ी लिये दिए, डाल के टूटे फल की तरह बेरोक-टोक जमीन पर धब्ब से आ गिरे। नीचे ये प्रेमी युगल, ऊपर से सूखी लकड़ी की डाल, सूखी जमीन पर गिरते ही दोनों प्रेमी दाँत बाकर पड़ गये। इतने में बड़कुआ जड़ी लिए आया। उसने जब दोनों के सीने पर अपना हाथ रखा, सहसा चिल्ला पड़ा--"अरे भाग रे सुसुरी की बेटी, यह तो दोनों मर गये।"

तब से उस बाग का नाम "भुतहा बगीचा" पड़ गया और आज तक जो कोई उस बाग से निकलता है, उस स्थान पर थोड़ा गोबर

और लकड़ी फेंक देता है, क्योंकि ऐसा नहीं करने से उसका अनिष्ट हो जाया करता है। अब तो वहाँ गोबर का अम्बार और लकड़ियों का पहाड़ हो गया है, जो इन "प्रणय-प्रतियोगियों" का अमर स्मारक है। अब इसकी शाखा प्रशाखाएँ तमाम हिन्दुस्तान में फैल गई हैं। हमारे पाठकों में बहुतेरे महानुभावों को देखने का यह अवश्य अवसर मिला होगा, कि अनेक ग्रामों में बाहर एक "ढेल मरवा" या "लकड़ी मरवा" स्थान बना रहता है, जहाँ पहुँचकर उस स्थान पर "ढेला" या "लकड़ी" फेंक दिया जाता है। वह स्व० मुन्शी और मौलाना का ही तो स्मारक है।

८

दिल्लगी

चिन्ताओं से चूर और परिस्थितियों से मजबूर आदमी को दिल्लगी या तफरीह नहीं सूझती। तबले की ठनक, सारङ्गी की भनक, कोकिल कण्ठियों की मीठी तान, कोमल कामिनियों की आन-बान, दोस्त अहवाबों की छेड़खानियाँ, बीबी बच्चों की नाज-बरदारियाँ, कोई भी उन बद्किस्मत आदमी को खुशदिल वो हरा नहीं बना सकती। संसार की इन अन्यतम मोहक और मधुर वस्तुओं में भी उसे कर्कशता तथा रुक्षता ही भान होगा। ऐसा चाण्डाल है यह पापी पेट, और इसकी चिन्ता! जो लोग बिना मिहनत के, हाथ पाँव हिलाये बगैर, घर से बनी-बनाई कचौरियाँ और हल्वे-पूरियाँ खाकर छैला बने घूमने

निकलते हैं, उनकी बात ही और है, पर जिस अभागे प्राणी को दिन भर कोल्हू के बैल की तरह पेराकर भी शाम को भर पेट अन्न नसीब न हो, जिसकी हार्दिक कामनाएँ और अभिलाषाएँ पल-पल में फाँसी के तख्ते पर झूलती हों, उसे दिल्लगी सूझे तो कैसे ? दिल्लगी दिल की उमङ्ग है, प्रसन्न-हृदय का प्रतिरूप है, खुश-खुर्रम लोगों की दिल-बस्तगी का एक मजेदार शगल है, या "वर्क" है। हम हतभाग्यों से और प्रसन्नमूर्ति महाराणी दिल्लगी देवी से क्या वास्ता ! कैसा सरोकार !

आप सब सुनते जाएँ, मुझे दिल्लगी सूझे तो क्योंकर ! खुशनसीबी से कहिये या बद्‌नसीबी से, मैं एक साधारण से नगर के म्युनिस्पिल दफ्तर का मुलाजिम हूँ, और वह भी मामूली क्लर्क-किरानी ! एक मालिक का हुक्म ढोना, उन्हें खुश करना तो हिमालय की चढ़ाई है ही, फिर जहाँ बारह-बारह चौदह-चौदह मालिकान हों और उन मालिकानों में सौभाग्य (?) से यह "कम्पीटीशन" छिड़ा हो कि "फलाँ नौकर अगर माने तो मेरा ही हुक्म, फलाँ मालिक का नहीं" तो उस अभागे नौकर की नौकरी का खुदा हाफिज़ ! बिचारे के दिन फरमावर-दारियाँ बजाते-बजाते और झिड़कियाँ सुनते ही सुनते कटते होंगे। आज पहले हल्के के कमिश्नर साहेब रञ्ज हैं, कल दूसरे हल्के के, परसों-तरसों-चौथे-पाँचवें वार्ड के। नौकर क्या बना मदारी का बन्दर ! बेचारा सुबह-शाम तक दस दरवाजों पर "ताथेई-ताथेई" करता रहे। उस आदमी को दिल्लगी कैसे दीख पड़े साहेब ! जिसकी हर साँस से यह व्याकुल ध्वनि निकला करती है—"हे राम ! नौकरी रही कि गई ? बचाइयो भगवान !" पेट और इसकी चिन्ता के अधर में लटका तथा प्रतिक्षण शङ्काओं के आघात से थर-थर काँपता जीव क्या खाक-मजाक करे ? अजी बाबूजी ! वह गरीब मजाक में ही सारा दिन बिता दे तो सर कब धुने ?

सुबह उठा कि "जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया" की चतुर्थ अवस्था

की भाँति चार अवस्थाएँ मेरे सम्मुख सप्राण खड़ी हुईं। पेट, परिवार, नौकरी, और इनकी रक्षा की चिन्ता--? बस इसी फिक्र में दिन डूबा, रात आई, सोचते-सोचते सो गया, सुबह हुआ और फिर वही राँड़ का चर्खा--पेट, परिवार नौकरी और इनकी रक्षा की चिन्ता! क्या खाकर दिल्लगी करें हुजूर!

गाँववाले तो गाँववाले—उन्हें तो मेरी गृहदशा और अवस्थाओं का ज्ञान न था, क्योंकि वे देखते बाबू (यानी मैं) जुल्फें सँभाले मलमल का कुर्त्ता पहने और फेल्ट टोपी लगाये, हाथों में घड़ी और काँखों में हाकिम का बस्ता दबाए कचहरी जा रहे हैं, दस आदाब बंदगी भी बजाते हैं, आने-दो आने रोज पान खाकर थूक देते हैं। बड़े कुबेर हैं। सिकन्दर और पुरन्दर के दूसरे संस्करण हैं। मगर हैं रूखे दिल के, किसी से भर मुँह नहीं बोलते, हँसी तफरीह भी नहीं करते, यही इनमें ऐब है--...वगैरह-वगैरह।"--यदि वे ऐसा कहें तो किसी तरह उचित भी था। परन्तु मेरी महारानी जी, जिनके हाथ-बाँह थामने की बुरी सजा मैं क्षण-क्षण भोग रहा हूँ, जो घर और बाहर से पूरी तरह वाकिफ हैं, और बनाई रोटियाँ खाट पर बैठी-बैठी तोड़ा करती हैं, उन्हें तो मेरे इस उपकार के प्रति कृतज्ञ, अनुगृहीत और मेर मुसीबतों का हमदर्द होना चाहिये था। पर उन्होंने भी मेरे पिता श्री० के रखे, मेरे शुभ नाम--बा० गिरीन्द्र नारायण वर्मा--जिस नाम से मेरी 'आई० ए०' की सार्टीफिकेट कटी थी--को उड़ाकर मेरा नाम रखा था--"नीरस जन्तु" 'सूखा काठ' "बेदिल का जानवर" आदि-आदि। यह तो जमाने की खूबी है जिसके लिये चोरी करो, वही कहे चोर! घर बाहर, चारो ओर जिसे कहीं भी शान्ति सुख नसीब न हो, वह आदमी क्या दिल्लगी करे?

\+ \+ \+ \+

मेरे घर दुनियाँ के एक बहुत बड़े आदमी का शुभागमन हुआ

था। आप घबड़ाए नहीं मेरे घर गाँधी जी या किङ्ग जार्ज फिफ्थ नहीं उतरे थे, और ये लोग सबके लिये बड़े आदमी भी नहीं हो सकते, मगर मेरे घर पधारनेवाले महापुरुष हर आदमियों के लिये बड़े आदमी हो सकते हैं। जीवन की सारी कमाई चाहे वह 'अर्थ' की हो या 'काम-मोक्ष' की, जिनके सम्मुख तुच्छ, नगण्य हो, उनका पसगाँ भी पूरा नहीं कर सके, जिनकी योग्यता और बड़प्पन वर्णन के हेतु यह लोकोक्ति संसार प्रसिद्ध है—"सारी कमाई एक तरफ, और जोरू का भाई एक तरफ।" इतने मशहूर आदमी की खुश-आमद मेरे घर हुई थी। लिहाजा आप मेरे कथनों का खुलासा मतलब तथा उसकी सत्यता समझ गये होंगे कि मेरे गृह पर कितने बड़े आदमी के चरणारविन्द आये थे। यानी हमारे साले साहेब ने अपनी तशरीफ मुबारक लाने की इनायत बख्शी थी। धनी आदमी थे, जवानी के दिन थे, चेहरे पर लागर्जी छाई हुई थी, बड़े मस्त और आनन्दी जीव थे, और इतने स्वातंत्र्यप्रिय व्यक्ति थे कि इम्तहान में जब चार दिन बाकी रह जाते तो आपको "सर-दर्द" की बीमारी आ घेरती, और आप चट्-पट् मंसूरी या नैनीताल एलाज कराने चले जाते। आखिर क्या करते बिचारे? इम्तहान के लिये जान थोड़े कुर्बान करते? "क्लास" में लेक्चर हो रहा है, और आप बाहर "कालेज गार्डन" में "सिगार" और "सिग्रेट" के कड़ुएपन पर मीमांसा कर रहे हैं। "आई० ए०" में सात बार "सर-दर्द" हुआ, और आप सातो बार "फेल" रहे। अब आप पढ़ना छोड़कर बड़े आदमियों का मुख्य कर्त्तव्य, जीवन का सत्यानन्द—यही दिल्लगी करते चलते हैं, और आप अपनी दिल्लगी की ही मस्ती में झूमते, प्रवाह के तिनके की तरह मेरे घर के भी किनारे आ लगे हैं। उनकी इस दिल्लगीप्रियता का सुपरिणाम (?) मुझे भोगना पड़ता है। "ह्विस्की", सोडा, शिकार (गोश्त) सीगार, कचौड़ी और मोहनभोग की तैयारी में मुझ

गरीब के पूरे दो माह की कमाई याने १५ दूने ३०) रुपल्ली उनके चुरुट के धुएँ की तरह उड़ जाती है।

आप भोजन करने बैठे थे। तश्तरी और कटोरियाँ पूरे साढ़े चार गज जमीन छेंके भानमती के तमाशे के तुल्य बिखरी पड़ी थीं। इतनी चीजें तो वे एक बार खायेंगे नहीं, कुछ कुम्भकर्ण की औलाद थोड़े हैं? मगर मेरी महाराणी जी अपने घर की ठाठदारी और नफासत तथा बड़प्पन प्रदर्शन में मेरे खून की कमाई मिट्टी में मिला रही थीं। साले साहेब मेरी ओर सङ्केत कर अपनी बहन से बोले—"जीजी! दुनियाँ देखी पर ऐसा "ड्राई" (सूखा) आदमी कहीं देखने को न मिला, पता नहीं इस शख्श के सीने में कौन से जानवर का दिल है? महा-हिन्स पशु शेर भी आपस में हँसी-मजाक करते हैं, मगर यह तो शेरों के भी कान काटे हुए हैं। सच कहता हूँ बहना, मेरी यह साध कफन के साथ ही कबर में लिपटी जाएगी कि "साले-बहनोई" में "भहू-भसुर" का नाता न टूटा। क्यों भाई साहेब! कहिये क्या मैं गलत कह रहा हूँ?

"हूँ—ठीक—है।"—अन्यमस्कतापूर्वक उत्तर देकर मैं कनखियों से उन बर्बाद होनेवाली अपनी चीजों को देखता, खा रहा था।

"देखा बहन! सुनो "हुङ्कार" की ध्वनि? खुदा बचाए ऐसे नीरस जन्तु से"—बहन को इङ्गित कर वे बोले। उनकी बहन देवी ऊबती झुँझलाती और मन ही मन मेरी शुष्कता को कोसती हुई बोलीं—

"छोटे बाबू, तुम तो कुछ घंटों के लिये बरस दो बरस पर आया करते हो, पर मैं तो आज प्रायः १५ वर्ष से लगातार देख रही हूँ। इनपर सदा "विपता मास" ही रहता है। चाहे होली हो या श्राद्ध! यही "हूँ" की आवाज, और उसमें यही भारीपन, यही उपेक्षा और ऐसी ही गम्भीर मुखमुद्रा! छोड़ो इन्हें। खाओ तुम। सूखे काठ हैं काठ!

समझा बड़े आदमी हैं, बड़े आदमियों का दिलो-दिमाग कुछ और होता है। बहन की ललकार पर कहीं पीढ़ा उठाकर न चला दें, इसलिये सतर्क हो बैठ गया, पर यह वैसे बड़े आदमी अभी नहीं बने थे जैसी इनकी बहन जी बन चुकी थीं। हँसते हुए खाने लगे, मगर फिर बोले—"जीजा जी! तुम्हें मेरी सौगन्ध जो इस बार कुछ दिल्लगी न करो, देखूँ कौन झिपाता है?"

"हाँ-हाँ मर्द की तारीफ इसी में है—" मुझे चैलेञ्ज देती हुई मेरी गृहलक्ष्मी बोलीं—"बाप के बेटे हो तो दिल्लगी करके दिखा दो, तुम अपने को बड़ा हुशियार समझते हो। बोलो है मंजूर?"

मैं थाल पर से उठ गया, साले साहब भी उठे, और उठते-उठते बोले—"क्या खाकर यह दिल्लगी करेंगे बहन!"

इन बहुत भले और बहुत बड़े आदमी ने बात ठीक ही कही—कुछ खाकर ही दिल्लगी की जाती है। बिना खाए दिल्लगी क्या होगी? किन्तु फिर भी ये "युगल भ्राता-भग्नि" मुझसे दिल्लगी की माँग पेश कर रहे थे। इनकी समझ की बलिहारी थी!

साले साहेब तो बाहर बैठके में सोने गये, मगर मैं बाहर न जा सका। क्योंकि बकौल मेरी श्रीमती—"वे इतनी पतिभक्ता, पतिपद परायणा रमणीरत्न हैं कि छुट्टी के बाद मुझे एक पल भी बाहर ठहरने या सोने नहीं देतीं।" ईश्वर जाने उनकी यह प्रबलाकांक्षा पतिभक्ति का उद्रेक थी, या मेरे आचरण भ्रष्ट होने की शङ्का—भय और चिन्ता की कुप्रेरणा! जो, हो, मैं घर में ही सो रहा।

श्रीमती साग्रह बोलीं—"तुम्हें कसम है मेरे सिर की, जो इस बार छोटे बाबू से कुछ दिल्लगी न करो, बेचारे ने कितने दुखभरे आर्त्त नेत्रों से मेरी ओर हेरते हुए कहा था—"मेरी साध कफन में लिपटी कब्र में जाएगी। राम! राम!! यह सुनकर भी तो तुम्हें कुछ दया आई होती।"

मैंने कहा—"दया तो करूँ मगर मेरा तुम एक काम करो।"

श्रीमती, सोत्साह बोलीं—"जरूर करूँगी, कहो।"

मैं—"मुझे कल अपने एक नये दारोगा मित्र को बेवकूफ बनाना है, तुम दस बजे रात में साहबी पोशाक पहन कर आओ। मैं उसे कहे रखूँगा कि पुलिस का साहेब रात में गश्त को आया करता है। वह तुम्हें देखते ही डर जाएगा, उसे कान पकड़वा कर उठाना-बैठना तब छोड़ना, फिर बड़ी दिल्लगी होगी।

मुझे भी दिल्लगी करने की आदत पड़ रही है, इसलिये मेरी महाराणी परम पुलकित हो बोलीं—"हाँ, हाँ, बड़ी खुशी की बात है जो तुममें कुछ जानदारी आ रही है, मगर वह मुझे छू-छा तो नहीं करेगा ?"

मैंने कहा—"माशेअल्ला ! तुमने भी खूब सोची, अरे उस कमबख्ती के मारे की तो मारे खौफ के बुरा हाल हो जाएगा। रोएगा, गिड़गिड़ाएगा कि तुमसे यानी अपने अफसर से हाथापाई करेगा ?"

श्रीमती के दिल में मेरी यह बात बैठ गई। वे हर्ष गद्गद् हो बोलीं—"हाँ, हाँ ठीक, ठीक ! ठीक ! बड़ा उल्लू बनेगा वह दारोगा। अच्छा कब ! कल रात में न ?"

"हाँ !" मैंने कहा !

वे बोलीं—"मैं तैयार हूँ तुम साहबी पोशाक लेते आना।"

दूसरे दिन—

जब मैं ५ बजे शाम को आफिस से लौटा तो छोटे बाबू बैठक में बैठे थे। मैं कपड़े उतारता हुआ बोला—"आज तो दिल्लगी ठीक कर आया हूँ लाला, मगर कहीं फँसना मत, नहीं तो भारी भद्द होगी।"

बड़ी उमङ्ग से छोटे बाबू बोले—"कैसी दिलग्गी जरा बताइये तो, फँसने वाले कोई और होंगे, यहाँ तो दिल्लगी में ही दिन गुजरे हैं।"

मैं—"अच्छा तो सँभले रहिएगा, आज ही दस बजे रात को तय रही।"

छोटे बाबू—"तनिक हिन्ट" (संकेत) तो दीजिए। दिल्लगी किस रूप में होगी।"

मैं—"जब हिन्ट ही मिल जायया तो फिर मजा क्या आयेगा।"

छोटे बाबू—"कुछ भी तो बताइये—"

मैं—"एक औरत आपको छकाने आएगी।"

छोटे बाबू—"तब !"

मैं—तब आप एक काम कीजिएगा। मैं नकली "गलमुच्छा" लेता आया हूँ। आप दारोगा का 'ड्रेस' पहनकर मुझसे बातें करते रहिएगा। जिस दम वह आये, आप से कुछ अनाप-शनाप बोले तो आप चट् उसकी कलाई थाम लीजिएगा, बस बीबी को लेने के देने पड़ जायेंगे। देखिए छोड़िएगा मत। चाहे वह लाख कहे, "मैं आपकी फलानी-चिलानी हूँ।" घसीट कर ले जाइयेगा अपने कमरे में और मौज से सारी रात दिल्लगी करते रहिएगा। मैं तो इसका भेद नहीं खोलता, पर आपका पद-गौरव बड़ा ऊँचा है, और आप दुनिया के एक बड़े प्रिय पदार्थ और बड़े आदमी हैं, इसलिए आपकी कदर, प्रतिष्ठा करना मेरा फर्ज है। हाँ, एक बात, इसका जिक्र अपनी बहन से कभी न कीजिगा, नहीं तो वह बड़ा भारी उपद्रव खड़ा कर देंगी। समझे न ?"

छोटे बाबू—"अच्छी बात है। मगर वह औरत कौन है, कोई शरीफ तो नहीं ?"

मैं—"नहीं साहेब, शरीफ औरत एक गैर मर्द से, सो भी रात में दिल्लगी करने आएगी, वह मेरे दफ्तर के एक बाबू की रखेल है।"

"हाँ—? तब खूब रहेगा !"—आनन्द विह्वल हो साले साहेब बोले।

श्रीमती को पूरा साहेब बना दिया, गोरे मुखमण्डल पर पाउडर

पड़ते ही वह और लाल भभूका हो गया। ओठ पर एक पतली-सी मूँछ की काली लकीर खींचते ही बिल्कुल शकल ही बदल गयी। अब वे इङ्गलैण्ड से टटके आए एक "यङ्ग" (युवक) साहेब थीं। हाफ-पैण्ट, शर्ट, कोट, चश्मा, हैट, टाई, स्टिक, सब दुरुस्त था। इधर इनके भाई साहेब भी मुँहपर "गलमुच्छा" चढ़ाए खाकी बिरजिस, खाकी, कोट और बटनदार टेढ़ी टोपी धारण किये खासे दारोगा बने बैठे थे। हम दोनों में ,घुल-घुलकर बातें हो रही थीं कि सहसा साहेब बहादुर बड़ी रोबीली अँकड़ से 'बूट' पटकते कमरे में घुसे। मैं ससंभ्रम उठा और झुक-झुककर सलाम बन्दगी की, फिर बा-अदब एक ओर माथा झुकाए गंभीर मुद्रा में खड़ा हो गया ?

साहेब दारोगा से बोले—"वेल दारोगा ! इस टाइम में तुम यहाँ क्या करता है ? हम तुमसे "चार्ज" लेगा।"

दारोगा बोले—"आप पूछने वाले कौन होते हैं, हम "राउन्ड" में निकले हैं। आपको मैंने रात में वगैर लाइट गश्त करते गिरफ्तार किया।"

साहेब कड़ककर बोले—"वेल दारोगा ! गुस्ताखी से मत बोलो, हम पुलिस अफसर हैं, कान पकड़कर उठने बैठने से हम तुमको म्वाफ कर देंगे, वर्ना आज से तुम अपने को "डिसमिस" समझो ! बोलो उठते बैठते हो, या मैं करूँ कार्रवाई ?"

"हाँ—! ऐसी बात ?" कहकर हँसते हुए साले साहब उठे, और उन्होंने साहब बहादुर का हाथ थाम लिया। अब मैं बलात् हँसी रोकने में बिल्कुल असमर्थ-सा होकर बाहर चला आया। दारोगाजी में और साहब बहादुर में खासी मुठभेड़ शुरू हो गई। साहेब बहादुर घबड़ा-घबड़ा कर मुझे देख रहे थे, मैं कहाँ चला गया। यहाँ तो बेभाव की पड़ना चाहती है। दारोगा जी डँटे थे नपोलियन की तरह संग्राम क्षेत्र में। बैठे बिठाए एक औरत रातभर दिल्लगी करने के लिए मुफ्त

में मिल गई, इस आनन्द का परित्याग करने पर वे तत्पर न थे। हाथा-पाई शुरू ही थी कि सहसा दारोगाजी के हाथों से झटके खाकर साहब का हैट दूर जा गिरा, और झट् नागिन-सी चोटी लटक कर पीठ पर लोटने लगी। अब उन्हें मेरे कथनों पर तनिक भी सन्देह न रहा। दारोगा जी ने एक ही धक्के में मेरी श्रीमती यानी अपनी बहन को पलंग पर चारो खाने चित्त दे मारा, फिर कहा—"अरे बीबी अब उछल कूद मत करो, हमलोग खेले-खाए आदमी हैं, हमें फसाना टेढ़ी खीर है, जाने न पावोगी, चुपचाप पड़ी रहो।" फिर वे अपना मुँह श्रीमती के कपोलों के निकट चुम्बनार्थ ले गये कि उन्होंने उनको दाढ़ी नोच ली—सारी दाढ़ी अनायास ही उनकी मुट्ठी में चली आई, और वह एकाएक जोर से चीख उठीं—अरे कौन! छोटे बाबू तुम—छोड़ो! छोड़ो! अरे मैं हूँ तुम्हारी बहन! ओफ्-होः! यह क्या हुआ?"

साले साहब रसिकतापूर्वक बोले—"अरे चकमे न दो, बहन फहन गई भाड़ में, मजाक छोड़ो।"

श्रीमती व्यग्र हो बोलीं—"एँ—! तो क्या मुझे न छोड़ोगे :२ क्या भाँग छानी है—? बहन पहचान में नहीं आती?"

साले साहब उसी स्वर में बोले—"खूब आती है पहचान में, मैं उल्लूनाथ नहीं हूँ जो तुम्हारे मुगालते में आ जाऊँगा। समझी? आज रात यहीं बितानी पड़ेगी। बहन बनो या बुआ, मैं छोड़ने का नहीं।"

छोटे बाबू फिर चुम्बन के लिये लपके कि श्रीमती चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगीं और लगीं लगे हाथों मुझे भी बुरा-भला कहने। मैंने भी देखा अब अनर्थ हुआ चाहता है, दौड़कर भीतर गया और दोनों को दो तरफ हटाकर बोला—"साहेब सलाम! दारोगाजी सलाम!—"मेरी हँसी देखकर साले साहेब कुछ झिझके, श्रीमती चटपट लोटे के जल से मुँह हाथ साफ कर छोटे बाबू से बोलीं—"लो पहचानो, मैं तुम्हारी

कौन हूँ। बेवकूफ! फँस गये फन्दे में न! अकेली मैं ही नहीं—तुम भी। गुपचुप आदमी बड़ा कौंइयाँ और पक्का दगाबाज होता है।

बेचारे छोटे बाबू ने जेठ के कुत्ते की तरह बित्तेभर अपनी जीभ बाहर निकाल दी। चेहरा इतना सुर्ख हो गया मानो सैकड़ों जूते सूरत पर पड़े हों। मैंने कहा—"क्यों छोटे बाबू, और छोटे बाबू की बहन जी, अब तो साध पूरी हुई न—? अरे मैं तो भली तरह साध पूरी करा देता, मगर रोने से दया आ गई।"

तब से श्रीमती को "दिल्लगी" शब्द मात्र से इतनी चिढ़ हो गई है कि उसका नाम लेते ही बड़बड़ाने लगती हैं। जमाने ने बेतरह पलटा खाया। मैं दिल्लगीबाज हो गया, और वह—वही "सूखा काठ" "नीरस जन्तु" बन गई हैं।

छोटे बाबू को भी कई बार लिखा—"शेष साध भी पूरी कर जाइए नहीं तो वह कफन में ही लिपटी कब्र में चली जाएगी।" पर न तो वे आते ही हैं, और न कुछ उत्तर ही देते हैं। शायद उन्होंने भी "दिल्लगी" से किनाराकशी कर ली है।

९

"आशिकी"

"आशिकी का हो बुरा, इसने बिगाड़े सारे काम।
हम तो ए० बी० में रहे अगियार बी० ए० हो गये।"

(स्व० अकबर एलाहाबादी।)

रोगों का राजा "कारबङ्कल" और "डैबिटीज", दुखों का मूल बुढ़ापे की विधुरता, आफतों की मार, भरी जवानी में "लकवे" का आक्रमण, इन सबका सादर स्वागत सहर्ष स्वीकार है। पर जनाब इस कहरे-बाला आशिकी यानी इश्क निगोड़ी से या अल्लाहगनी तेरी ही पनाह। इसका जैसा तीता तजर्बा, सङ्गीन नतीजा आपके इस सेवक को उठाना-भोगना पड़ा है, आपके भगवान अपने हजार हाथों से इस खतरे से आपकी रक्षा करें। उफ—ठीक ही कहा है—

"खालिसे खार से खुदा की पनाह।
निगाहे यार से खुदा की पनाह।"

उन गजब की आँखों की सङ्गीन चितवन को खुदाई मार से कम कष्टकारक न समझिये। खुदा जिसे हर हाल जलीलोख्वार बनाना चाहते हैं, वही इस मुई आशिकी के बवण्डर में उड़ा फिरता है। कहने वाला ठीक ही कह गया—"खुदा जिसे खराब करें, वह लगाए दिल।"

× × × ×

सुनिये मैं अर्ज करता हूँ।

हमारी जैसी तबीयत वाले—यानी जिस गरीब का दिल पुए की तरह मुलायम, कच्चे धागे की नाईं नाजुक, शीशे की भाँति तुनुक और दुधमुँहे बच्चे के मानिन्द नादान हो—आदमी के घोर दुर्भाग्य से हम जिस कालेज में पढ़ रहे थे, उसमें देवियाँ भी शिक्षा पा रही थीं, और साथ-साथ कहना बेजा नहीं, जिनकी सुदया और चरणार्विन्दों के बलन्द अकबाल से इतनी बड़ी "रामायण" और "महाभारत" की रचना हुई, यदि इनके कृपा कटाक्ष से कालेज और होस्टलों में भी एक छोटी-मोटी "रामायण" या "महाभारत" का सृजन हो जाए तो तअज्जुब की कोई गुञ्जाइश नहीं। सो हमारे कालेज होस्टल में भी प्रणय महाकाव्यों की सृजना प्रारम्भ हो गई थी। दर्जनों—"कैसो-फ़रहाद" "दुष्यन्त और शन्तनु" "राँझा और महीवाल" पैदा हो

गये थे, और अपने टुटहे सीने में अपनी-अपनी "लैली-शीरी—"शकुन्तला, मत्स्योदरी"—"हीर-सोहनी" का दर्द सँभाले "आहों फुँगा" से फलक में फोड़े डाल रहे थे। गो, हम इन सब झमेलों से सदा दूर ही दूर रहने की चेष्टा किया करते थे, पर जिस नगरी में साक्षात् महामाया अपने प्रचण्ड रूप से नरसंहार लीला में जुट पड़ी हों, उस नगर का वासी तो एक न एक दिन महामारी महादेवी के चपेटे में आकर ही रहेगा। मैं भी आकर ही रहा—और बुरी तरह।

मैं था एक ठेठ दिहात का वाशिन्दा, बिलकुल सर से पाँव तक सीधा-सादा। न मुझसे किसी छामछूम या बनाव शृङ्गार का नाता था और न "कालेजी बाबू लोग" जैसी किसी तड़क-भड़क से सरोकार। पढ़ना और खाना, फिर सो रहना यही मेरा जीवन था और मैं अपने इसी सादे से जीवन के लिये कालेज भर में "चे-गैन-दाल", (चोगद) के नाम से मशहूर था। हाँ, कभी-कभी मैं होस्टल कम्पाउण्ड वाले "गार्डन" में योंही घूम-फिर लिया करता था। मगर मुझ बदनसीब के लिये यह घूमना भी आजाब ही साबित हुआ।

× × × ×

उस दिन ग्रीष्म की सुहावनी सन्ध्या थी, और मैं उसी होस्टल वाले 'गार्डन' के गोलम्बर पर अकेला बैठा-बैठा ठंढी बयार की बहार लूट रहा था। इसी समय हमारे कालेज की दो सुन्दर छात्राएँ अँकड़ती, मचलती, ऐंठती और इतराती उसी 'गार्डन' में आ धमकीं। अजीब उनके भेस थे। वे खूब सजी सजाई थीं। उनके गोरे मुखड़े पर पाउडर पुता था। गुलाबी रङ्गों से होठ रङ्गे थे। कलाइयों में सिर्फ दो-दो सोने की चूड़ियाँ थीं। कानों की "इयरिङ्ग" सचमुच हवा-सी डोल रही थी। माँग तो भरी न थी पर ललाट पर रोली-विन्दु बड़े मादक ढंग से चमक रहे थे। केश खुले थे, जिसकी दो पतली लटें उनके गुलाबी गालों को चूमती, उनके उभरे उरोजों पर नागन-

सी लोट रही थीं। ऊपर के केश बगल से सँवारकर और "पत्ते निकाल कर "गोल्डेन सेफ्टीपिनों" से अँटका रखे गये थे। चौड़े पाढ़ की एक निहायत कीमती शान्तिपुरी साड़ी, उनकी बलखाती हुई कृश-काया में आधुनिक ढङ्ग से लिपटी थी। क्या बताऊँ उनके लोच, नाजो अन्दाज, वे यह समझे बैठी थीं मानों सौन्दर्य और सुकुमार्य मूर्तिमन्त हो उनके पोर-पोर में डोल रहा है। वे अपनी मस्तानी अदाँ से बेखबर-सी आपस में घूम-घूम कर बातें करती उस नन्हें से फूलबाग को तृप्त कर रही थीं। वे ऐसी बेफिक्र थीं, आजाद थीं और खुश थीं, जैसे संसार की सारी यंत्रणाओ पर उन्होंने फतह पा ली हो या कभी उसकी पर्वाह न की हो। सहसा मर्दों के दुपट्टे की तरह उनके पृष्ठ-प्रदेश पर झूमता हुआ—उनमें से एक का अञ्चल गार्डन की काँटेदार झाड़ी में बुरी तरह उलझ गया, और वे एक निहायत शोख अदाँ से चमक कर उलट गईं। शायद उन्हें जान पड़ा हो, इस अपार रूप के तरल सुरा से अचेत किसी उन्मादी ने तो नहीं उनका आँचल थाम लिया? पर खैरियत यह हुई कि उनके रूप का वह दीवाना कोई हाथ पाँव वाला न था बल्कि वह था मूढ़ प्रकृति का एक बेजबान बच्चा और उन्हीं की तरह "स्त्रीलिङ्ग" काटें की झाड़ी।

वे हँस पड़ीं। फिर आँचल छुड़ाने के प्रयत्न में लगीं। पर वह गरीबिन छोड़ती न थी। अजीब झमेला था। सहसा इस दृश्य ने मुझे "सीता स्वयम्बर" की याद दिला दी, वे भी जब रङ्गभूमि में पधारी थीं तो "मोहे रूप देखि नर नारी" का ही दृश्य उपस्थित हो गया था। पर यहाँ तो इस रूप की महिमा यह है कि डाल और पत्ते तक मोहे मरते हैं। धन्य रे रूप!

मैं बदनसीब यह सब शोभाएँ निरख रहा था, और बेइख्त्यार होता जा रहा था, जैसे दिल में डाँक गाड़ी अपने "फुल मोशन" में दौड़ लगा रही हो। आखिर मैं भी तो कोई बेदिल का जानवर

न था। कविकुल आचार्य बाबा तुलसीदास के शब्दों में—जब नारी के नयन-बाण से विद्ध प्राणी, महाघोर निशा में सोते से जग पड़ते हैं तो, मैं तो बिलकुल जगा-जगाया था, फिर इस "नयन—बाण" से विकल क्यों न होता! फिर "नारि नयन सर काहि न लगा" इन्हीं महात्मा के शब्दों में मैं भी उसी "काहि" श्रेणी के ही जीवों में तो था।

ये रूप की सँवारी, शोभा की गढ़ी मनोहर मूर्तियाँ मेरे गोलम्बर की ही तरफ मुड़ीं। एक ने दूसरे की तनिक उङ्गली दबाई और वह एक दिल भोंकने वाली नाजो अदा से मधुर-पीड़ा द्योतक मुँह बना "आह-री—" कह कर रह गई। जलती कड़ाही में जैसे तेल पड़ा, मैं छन् छनाकर रह गया और बड़ी व्यग्रता से अपने को सँभालने लगा। या मेरे मौला कहीं मुझसे कोई "एक्सीडेन्ट" न हो जाए।" इधर मेरे दिलो दिमाग—दोनों का बुरा हाल था, और उधर उन्हें यह शरारत सूझी कि वे मेरे गोलम्बर के निकट आ एकाएक "हाल्ट" हो गईं। होठों पर वही जालिम मुस्कराहट, चितवनों में वही सितम-अंगेज वारदात! इस प्रकार अपने सम्मुख इस साक्षात् भूकम्प को उपस्थित होते देख मैं तो बिलकुल करार खो बैठा। घबराया सा, भीत सा, व्याकुल सा माथा गाड़े, आँखें बन्द किये मैं इस प्रत्यक्ष भूकम्प का विकराल प्रभाव मन ही मन महसूस कर रहा था, कि ये मूर्तियाँ अब मेरे गोलम्बर पर ही थप्प से बैठ गईं। या भगवान मैं तो झूले की तरह डोल गया। एक ने बड़ी मीठी बोल और बाँकी अदा से तनक मुस्कराते हुए कहा—"आप मुझे क्षमा करेंगे, मैं आपको कुछ कष्ट दिया चाहती हूँ।"

साहस बटोर कर भी मेरे मुख से बोली बारह न निकली, कोकीन खाये व्यक्ति की तरह जीभ ऐंठने लगी, और नाक से ज्वालामुखी की तरह आग की लपटें निकलने लगीं। मुझे बिलकुल निःशब्द देख उसने अपनी दूसरी संगिनी से कहा—"अजी, ये साहब तो मुझसे

बोलना तक शायद गुनाह समझते हैं। तनिक तुम्हीं पूछो न, शायद तुम शंकर की समाधि तोड़ सको।

दूसरी कुछ व्यङ्गपूर्ण ढङ्ग से मुस्कराई और बड़ी नजाकत से रुक-रुककर बोली—"क्यों जनाब, हमने क्या कुसूर किया है जो जबाब तक नहीं पा सकतीं ?

"न-न ना-ना, आप पूछिये, जो पूछना चाहें, मैं कुछ दूसरी बात सोच रहा था। क्षमा करिये। हाँ कहिये।"

एक साँस से धड़-धड़ मैं इतना बोल गया। पर मेरी परीशानियों को वे ताड़ गई थीं जरूर।

वे हँसी—"मालूम होता है, शायद आपने, "फिलासफी" ली है ?"

मैं जरा झेंपता-सा बोला—"जी नहीं तो"—

पहली—"तो फिर कवि होंगे !"

दूसरी बोल पड़ी—"हाँ, हाँ, कवि ही होंगे, क्योंकि यह एकान्त और एकाग्रता कवि को ही प्रिय है।"

मैंने कहा—"नहीं-नहीं मैं कवि भी नहीं।"

पहली—तो फिर किसी की याद में खोये होंगे।

दूसरी बड़ी शाखी से हँसती हुई बोली—"हः, हः, हः, ठीक ! ठीक !! यह "याद" मुई है ही ऐसी चीज जो संसार और अपने तक तो क्या, खुदा तक को भुलाये रखती है।

अब मैं और बेतरह घबड़ाया, आखिर मुझे यों बार-बार छेड़ने, उसकाने में इनकी मन्सा क्या है ? कि इतने में वह फिर बोली—"क्यों साहब, क्या मेरा कयास गलत है ?"

मैंने सरल भाव से कहा—"क्या ?"

फिर वे दोनों हँस पड़ीं और बोलीं—"अजी वाह, आप तो जैसे क्षण-क्षण पर समाधि लेते हैं।" इतनी बातें हो गई, फिर भी आप पूछते हैं कि "क्या ?"

मैं—"आप क्षमा करें, मैंने समझा नहीं।"

"ओहः होः, आप तो बिलकुल भोले निकले।" मजाक के लहजे में उन दोनों ने कहा।

एक बोली—भोले नहीं बनते हैं बिचारे, कहीं भण्डाफोड़ न हो जाए।"

"हा, हा, हा, हा, हः हः हः हः"—तालियाँ पीटकर वे ठहाके लगाकर हँस पड़ीं और मैं उनकी इस उद्दण्डता, धृष्टता पर हक्का-बक्का-सा हो रहा। फिर वे बड़ी अँकड़ से बलखातो निकल गईं।

* * * *

उस दिन सारी रात मुझे करवट बदलने की कवायद करते ही बीती। "जो जल उठता है यह पहलू, तो वह पहलू बदलता हूँ" वाला मजमून रहा। उनकी तस्वीरें मेरी आँखों के सामने जादू की तरह घूमती रहीं, और मैं आहें खींचता रहा। मेरे मस्तिष्क को इन गुत्थियों ने भारी उलझन में डाल रखा था—"उन्होंने मुझसे क्यों छेड़-छेड़कर बातें कीं, मुझसे वे चाहती क्या थीं? क्या मुझपर उनका आकर्षण तो—" फिर ख्याल आता "अरे भला क्या मैं ही इस एक से एक रूपवाले भरे कालेज में ऐसा गुल्फाम युसुफ हूँ।" फिर सोचता—"स्नेह या आकर्षण तो किसी रूप शोभा पर निर्भर नहीं करता। वह तो अपने दिल की चाह है, देखा गया है बड़ी-बड़ी परीजाद लूँगरों के पहलू में चिपकी फिरती हैं। फिर मैं भी तो कोई वैसा बदसूरत नहीं।" अपने रूप का ख्याल आते ही झटपट मैंने दो बजे रात्रि में सूटकेस से आइना निकाला, लैम्प की बत्ती तेज की, और बड़े मनोयोगपूर्वक अपने रूप को निहारने लगा। वैसे मेरी सूरतो-शक्ल तो कुछ बुरी न थी, पर आज मुझे अपने पर बड़ी बेतरह झुँझलाहट हुई, क्योंकि मैंने अपने रूप को कभी कोई महत्व न दिया था, इसकी हिफाजत और तरक्की के लिये कोई इन्तेजाम, कोई कोशिश

कभी न की। दाढ़ी के बाल आधे-आधे इञ्च बढ़े हुए थे, बाल सूखे झलाँस की तरह खुश्क और उलझे हुए थे, मानो इस बेचारे ने मुद्दत से तेल और कङ्घी का मुख न देखा हो। राम! राम!! मैं भी कैसा मूरख हूँ, मुझे इस रूप में देखकर उन्होंने मन में क्या कहा होगा?—"कालेज स्टूडेण्ट है तो क्या, पर है पक्का मूरख या आलसी कोढ़ी?" बस अब कल ही बाल बनवाऊँगा, दाढ़ी साफ करूँगा, कपड़े बदलूँगा फिर देखूँ कौन मेरे मुकाबले में खड़ा होता है?

सुबह सबसे पहले मैंने अपने इसी रात्रि कृत संकल्प को पूरा किया। फिर कालेज गया। आज मैं बड़ा खुश था, जैसे भीतर किसी नवशक्ति का प्रादुर्भाव हुआ हो। सदा रोनी-सी गम्भीर मुखमुद्रा पर सुहास्य की मंजुल रेखा आलोकित कर सहपाठियों से मिला। मित्रवर्ग बड़े अचम्भे में थे—"यह मेंढक को जुकाम कैसा!"

"कालेज आवर" तो मुझे एक सत्य और सुबोध स्नेही की भाँति आकाश से भी अधिक अनन्त असीम दीखने लगा। जब-जब घबड़ा-घबड़ाकर घड़ी को देखता, वह सूम की मरीज घोड़ी की भाँति टिख-टिख चल रही थी, कम्बख्त सरपट का तो नाम ही नहीं ज़ानती। क्या बताऊँ, किस बेकरारी से, मैं "चार-बजने" की बाट जोह रहा था। अभागा यक्ष भी इतनी हैरानी से अपनी निर्वासित अवधि की समाप्ति का इन्तजार नहीं करता रहा होगा? खैर किसी तरह ४ बजा। प्राण मिले। भागा। और चट कपड़े बदल कर उसी गोलम्बर पर पलकें बिछाये बैठ गया। आज मैं उनके प्रश्नों का अनेक मनोहर तथा प्रणय-परिपाटी के अनुकूल उत्तर, अपनी नोटबुक में नोट कर ले गया था। उसे किस प्रेमप्लुत भाव से, कोमलता पूर्वक दाँते बिदोर-बिदोर कर, निहायत नर्मी और मुहब्बत से सराबोर जुबान से पेश करूँगा; उनकी बातें किस नम्रतापूर्ण शिष्टता से तनिक झुककर तथा अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गों को विविध मोहक ढङ्गों से सिकोड़ते, फैलाते, कभी

सेन्ट से तर अपनी रूमाल से मुख, कभी चश्मे का शीशा पोंछते, और मुखड़े पर पूरी मधुरता लाते सुनूँगा, इन सबका मैं आपही उस एकान्त में "रिहर्सल" कर रहा था। और इसमें मुझे इतनी तल्लीनता हो आई कि न तो मुझे समय की सुध रही, न स्थान, और न अपनी स्थिति का ज्ञान! छायावादियों की कट्टर प्रणयिनी-सा मैं अपनी विचार-धारा में लीन हो गया। अब आप-ही-आप बड़बड़ाने लगा, आपही सवाल करता, और आपही अपने मोशनों के साथ जबाब देता। सहसा मुझे सुन पड़ा कोई मेरा नाम ले लेकर पुकार रहा है। समाधि टूटी तो क्या देखता हूँ कि सामने प्रो० अग्रवाल खड़े-खड़े मुस्कराते हुए मुझे पुकार रहे हैं। उस समय सूर्यास्त हो चला था।—"अरे—!" बित्तेभर जीभ बाहर निकाल कर मैं मारे शर्म और ग्लानि से गड़ गया। यह क्या, शाम भी हो गई, और उन कुसुमबदना की जगह ठूँठी मूँछों से भरी प्रो० अग्रवाल की यह रुक्ष-कृष्ण काया!

"क्यों श्यामलाल अच्छे तो हो?" अग्रवाल साहेब ने तनक मुरस्कराकर पूछा।

"जी—!" सकपकाता हुआ मैंने संक्षिप्त उत्तर दिया और 'अटे न्शन' की मूड में खड़ा हो गया।

"क्या किसी "नाटक" में पार्ट लिया है तुमने?" अग्रवाल साहेब ने फिर पूछा।

"जी नहीं।" लज्जा से जमीन कुरेदते हुए मैंने कहा।

"तो फिर भाई, इस निरल्ले में यह उछल-कूद, यह बड़बड़ाना और हँसना, मुस्काना, किस बात का द्योतक है?" दिमाग भी दुरुस्त, कहीं एक्ट करना भी नहीं, फिर यह कैसा बवाल!" वे इस बार कुछ खुलकर हँस पड़े।

"—एँ—एँ—" करके मैं सर खुजलाता बगलें झाकने लगा।

"देखो ऐसा कभी न किया करो वर्ना पागल हो जाओगे। समझे न ?"

वे इतना कहकर चले गये, और मैं भी अपनी कलपती कामनाओं को सब्रो करार देता अपने "रूम" में चला आया।

× × × ×

उन्हें देखने के लिए मेरी बेकली "भारत में अग्रेजी राज्य" की भाँति बढ़ती गई। सिर्फ एक दिन की बात व मुलाकात से मैं इतना तड़पा करूँगा, भूख और नींद भी हराम हो जायगी, इसे तो मैंने स्वप्न में भी नही सोचा होगा। चौथे दिन फिर वे मुझे उसी बाग में टहलती मिलीं। मैं चुपचाप गम्भीर होकर गोलम्बर पर बैठा पछता रहा था। कारण कि उस दिन मैंने न तो अपनी वह 'मनोहर उत्तरावली' नोटबुक ही लायी थी, न रिहर्सल क्रमही जारी रखा था। फिर इनसे कैसी बातें होंगी ? पर बैठे-बैठे घन्टों बीत गए मगर वे न आईं। लाचार मैं ही उठा और उनसे कुछ दूर उनके पीछे-पीछे डोलने लगा। पर अभाग्य, फिर भी वे मेरी ओर मुखातिब न हुईं। दिल में हिम्मत बाँधता—"मैं हीं कुछ उनसे क्यों न पूछूँ" मगर फिर भी साहस ऐन मौके पर दगा दे जाता। मैं इसी घचर-पचर में पड़ा विचार कर ही रहा था कि वे बाग के बाहर हो गईं। चिड़िया उड़ गई, पिञ्जरा खाली रह गया। अपनी असह्य शून्यता से दिल को चीरने लगा। बंगाल की खाड़ी से भी एक गहरी "आह" खींचकर मैं रो पड़ा। पर वहाँ मेरे आँसू पोंछनेवाला या देखनेवाला बैठा ही कौन था ? आप रोया और आपही चुप हो गया।

क्षुधा भोजन से मिट जाती है और प्यास जल से, किन्तु यह मर्ज ऐसी बला है, जितनी बार अपनी प्रियात्माओं के दर्शन होंगे, उतनी ही अधिक और जोरदार दर्शन की प्यास—क्षुधा विकल करेगी, मिलन संभाषण की बलिष्ट और अमर अभिलाषा बिलबिलाती रहेगी।

वही दशा मेरी भी हुई। अब यह दर्द जब मुझसे सँभाला न गया तो एक अपने अजीज अहबाब की जरूरत हुई जो बेचारा मेरे दर्दों का या तो कुछ इलाज बता सके, या साझीदार हो। बड़ी छान-बीन के बाद अपने एक सहपाठी मुसलमान दोस्त को ढूँढ निकाला और मेरी समझ से मुसलमान भाई लोग इस फन के आम उस्ताद माने जाते हैं, इश्की मर्ज के रङ्ग-ढङ्ग और उसके निदान के विषय में यह काफी ज्ञान रखते हैं। लेहाजा मेरा यह मित्र-निर्वाचन बुरा न था। सारा किस्सा अपने इन नये अहबाब को सुनाकर मैं रो पड़ा। वे साधिकार बोले—"तुम बेवकूफी कर गये पहले ही रोज, वे तुमपर फरेफ्ता होकर ही तुम्हारे पास आयी थीं, मगर जब वे तुम्हारी जुनूनी गुफ्तगू के बाद समझ गईं—अरे यह तो बेदाल का बूदम है" तब उन्होंने तुम्हारी तरफ नजर भिड़ाना भी बुरा समझा, और इसीलिये बाद की मुलाकात में उन्होंने तुमसे अपनी आँखें फेर लीं।

"पर—पर—मगर—मगर वे मुझे चाहती हैं, ऐसा विश्वास आपको भी होता है क्या?" बड़ी अधीरता से मैंने पूछा।

वे कुछ झुँझलाते से बोले—तुम भी यार आदमी हो या सौदाई? काश वे तुम्हें नहीं चाहतीं तो तुम्हें उन्हें छेड़ने की जरूरत ही क्या थी? तुम तो चुप अपनी जगह बैठे थे।

हाँ भाई ठीक है। पर यह मूर्खता तो मुझसे हो गई, अब इसकी मरम्मत कैसे हो, कोई यत्न है?

उन्होंने कहा—है क्यों नहीं, तुम्हें कोई 'शेर-वेर' मालूम है या नहीं?

मैं—'शेर' तो क्या, मैं तो अलिफ-बे भी नहीं जानता।

वे—मैं एक शेर लिखे देता हूँ, जब देखना वे आ रही हैं, नजर बचाकर और आइन्दा जैसी उनकी हरकतें होंगी, बमुताबिक कार्रवाई

होगी। लिखो तुम, मैं तो हिन्दी जानता नहीं। शायद वे उर्दू न पढ़ सकें।

मैं—मगर भाई भद्दी अश्लील चीज न लिखाना, शायद वे मेरी ओर उतना आकर्षित न हुई हों, और इससे वे अपना "इन्सल्ट" मान लें।

"अमाँ लिखो भी, तुम यह सब क्या जानो।" फटकारते से वे बोले।

अच्छा लिखाओ भाई।

—"लिखो—"न बोसा देने आता है न दिल बहलाने आता है।
तुझे तो ऐ बुतेकाफिर फकत तरसाने आता है।"

शेर तो मैंने लिख लिये, पर इसके दो शब्द "बोसा" और "बुते काफिर" मेरी समझ में बिलकुल न आया। और मैंने अपनी शंका-समाधान के लिये इनके मानी पूछे।

वे बोले—"बुतेकाफिर" यानी "खूबसूरत शकलवाला" और "बोसा" मानी इज्जत के लायक।

—"हाँ, तब तो अच्छी चीज आपने लिखाई।" तोष भरे शब्दों में मैंने कहा।

वे हँसते हुए चले गए, और मैं कपड़े बदलकर बाल सँवार कर बाग की ओर गया। आज तकदीर साथ दे रही थी। ज्यों बाग में घुसा कि वे भी पहुँची। मैं धीरे से बड़ी सावधानी पूर्वक 'शेर' वाला पुर्जा उनके आगे गिराकर आगे बढ़ गया। मगर मेरी दृष्टि उन्हीं की ओर अँटकी थी। यह देखने के लिये कि वे पुर्जा उठाती हैं या नहीं?" परन्तु वे पुर्जे को वहीं छोड़ आगे बढ़ गई। अब मुझे भारी चिन्ता लगी, यह पुर्जा उनके हाथ लगे तो कैसे? अब मुझसे बैठा भी नहीं जाता था। उठा और फिर उनके पीछे-पीछे फिरने लगा। जब वे उधर से चक्कर लेती हुई उसी पुर्जेवाली जगह पर पहुँचीं और फिर भी उन्होंने पुर्जा नहीं उठाया, तो मेरी अधीरता अब असीम हो गई,

और जैसे बलपूर्वक किसी ने मेरे मुख से कहला दिया—"शायद वह चिट्ठी आपही की गिरी है ?"

वे मुड़ीं। परस्पर एक भेदभरी नजरों से देखती हुई हँसी और फिर पुर्जा उन्होंने उठा लिया। एक पढ़ रही थी, और दूसरी भी उचक कर उसे देख रही थी, दोनों मन्द-मन्द मुस्करा भी रही थीं। एक ने मुझसे पूछा—इसे तो आपने ही मेरे लिए गिराया था शायद ?

"ऊँ–हूँ–ऊँ–हूँहूँऊँहुँ–क्–ऊँहुँक !" वे मेरे इस घबराहट भरे विचित्र उत्तर पर खुलकर हँस पड़ीं।

बात दर-असल यह हुई कि मैं तो पहले से ही उनकी सूरत देखकर ही घबरा-सा गया था, और उन्होंने इस पर इस ढङ्ग से मुझसे पूछा, मानो उन्हें मेरी सारी बातें मालूम हों। मैं था भी अभी इस महाल का नया सिपाही। इस हड़बड़ में अनायास मेरे मुख से सच्ची बात निकल पड़ी, हलाँकि झटपट मैंने—"ऊँ--हूँ--ऊँ--हूँ" की नकारात्मक ध्वनि से अपनी अस्वीकृति प्रकट की। परन्तु जैसा उनके मुखड़े का भाव मैंने परिलक्षित किया उससे साफ प्रकट था कि वे मेरी पहली—"हूँ"—"हूँ" की स्वीकृतिसूचक ध्वनि पर ही विश्वस्त थीं। वे उस पुर्जे को लिए चलीं गईं। फिर कोई बात न हुई।

× × × ×

और दिनों से आज कुछ खुश तो मैं जरूर था, परन्तु "देखें वे क्या करती हैं ?" इस फिक्र से परीशान भी कम न था। अपने रूम में चौकी पर पड़े-पड़े यही सोच रहा था कि मेरे एक बगलगीर विद्यार्थी गुनगुना उठे—"लिया लब का बोसा—"

सहसा मैं उनसे पूछ बैठा—"क्यों साहब इस "बोसा" का मानी क्या है ?

वे बड़ी रसिकतापूर्वक आँखें मटका कर बोले—"चुम्बन !

चुम्बन ! अधर रसपान ! इसकी पिपासा बड़ी तरल और हृदय-ग्राही होती है।

"अरे बाप रे, यह क्या गजब हो गया।" एकाएक मैं बोल उठा। अब उस अश्लील शेर के सारे अर्थ मेरी समझ में आ गये। सारी रात दुश्चिन्ताओं के मारे नींद न आयी। अभी प्रातःकाल उठा ही था कि प्रिंसपल महोदय के अर्दली का "लालसाफा" देखकर धक् से रह गया। उसने कहा—"आपको प्रिंसपल साहब बुला रहे हैं।"

जो शङ्का थी वह साकार होकर सामने आई। कालेज की दो सद्वंश प्रसूत शिक्षित् तथा शिष्ट छात्राओं के अपमान करने के अभियोग में मुझे "रेस्टीकेट" होना पड़ा। मेरे उस पुर्जे को मेरे मुँह पर तमाचे की तरह फेंकते और रक्तवर्ण आँखों से मुझे घूरते हुए प्रिंसपल बोले—"तुम्हारी यह करतूत ? सीधी बछिया कपड़े चबा गई। जाओ, अपना काला मुँह करो।"

प्रिंसपल महोदय की मेज के निकट वे दोनों आफत की परकाला "कालिज की शिक्षिता" भी खड़ी थीं और बड़ी गम्भीरतापूर्वक सचमुच शिष्ट बने माथा गाड़े। पर इस स्त्री-सुधार-युग, और स्त्री-प्रोत्साहन काल के महाअन्धड़ में मेरी कौन सुने ?

और मैंने भी अपनी "आशिकी" का अच्छा इनाम पाया। बोरिया बँधना बाँधकर जब मैं अपने गृहगमन के हेतु इक्के पर सवार हुआ तो हठात् कविवर अकबर का यह "शेर" मेरे मुख से निकल पड़ा—

"आशिकी का हो बुरा, इसने बिगाड़े सारे काम।
हम तो ए० बी० में रहे, अगियार बी० ए० हो गये॥"

१०

बाप-बेटे

सेठ सठौराचन्द हमारे नगर के धन्नासेठों में थे। आपकी अतुल धनराशि के विषय में लोगों में यह आम शुहरत थी कि "कारूँ का खजाना आपके ही घर फूट निकला है।"

कहते हैं लक्ष्मी आती है, तब सब आता है, मान भी, यश भी, कीर्त्ति भी, अपवाद भी, विद्या भी, बुद्धि भी, शरारत भी और सज्जनता भी। मुख्तसिर में यह कि दुनियाँ की ऐसी कोई भली या बुरी चीज बाकी नहीं रह जाती जो लक्ष्मीनाथों के घर स्वयं दौड़ती, भागती, लुढ़कती, गिरती न आ धसती हों। लेहाजा सेठ सठौराचन्द के घर भी लक्ष्मीवान के सारे सामान मौजूद थे।

अकले सेठ जी अनेक खिताबों और उपाधियों से बम्बइया आम की डाल की तरह लदे थे। वे सरकार की राय में बहादुर यानी "राय-बहादुर" थे, वे अखिल भारतवर्षीय सनातनधर्म सभा की दृष्टि में साक्षात् "धर्ममूर्त्ति" थे। हिन्दू सभा ने उन्हें "हिन्दू हितकारी" का खेताब बख्श रखा था। कांग्रेस की नजरों में वे भारी "दानवीर" थे। ब्राह्मणों ने उन्हें "दयासागर" बना रखा था, और पण्डित सभा ने उन्हें "विद्याभूषण" की उपाधि से विभूषित किया था। यह सब था, पर सेठ जी सिर्फ "सेठ" जी थे, जिसे उन्हीं की मुड़िया भाषा में "सठ" कहा जाता है।

सेठ जी में सबसे खूबी और "क्रेडिट" की बात यह थी कि वे पक्के संसारी थे, दुनियाँ के रङ्गोरफ्तार समझ कर ही कदम बढ़ाते थे। विपुल वैभव के आगमन का एकमात्र कारण केवल उनका ही व्यवसाय-बुद्धि विमण्डित महामुण्ड था, तथा संसार भर के चातुर्य का अगम आगार उनकी नक्कारारूपिणी प्रबल तोंद ही थी, जो उनकी परम बृहद्स्थूल काया से गजों ऊपर उठकर दूर से ही दर्शकों को अपने पृथक् अस्तित्व का पता देती थी। इसमें सुई की नोक के बराबर भी सन्देह की गुञ्जाइश नहीं कि सेठ जी अपने जमाने के विकट व्यापारी, व्यवसाय के घोर कुशल कलाकार तथा एक सफल सेठ थे, नहीं तो उनके बाप दादा तो पापड़ बेला करते थे। जब कभी अपनी इन्हीं सफलताओं के घोर घमण्ड की आँधी, उनकी उदर-कन्दरा में बिलबिला उठती थी—तो बड़े जोश में अपने महामुण्ड एवं कुण्डोदर को हाथों से ठोंक-ठोंककर जैसे वे अपनी विजय का डङ्का पीट रहे हों—बड़बड़ा उठते—"यह इसी सुचतुर खोपड़ी और "बुद्धि राशि सब गुण सदन" रूपी महान तोंद का बड़ा अकबाल, प्रचण्ड प्रताप है जो सेठ सठौराचन्द आज "पापड़ बेचवा" के बेटे से धन्नासेठ पुकारे जाते हैं। सचमुच उनके जीवन की इस अपूर्व सफलता से कौन इनकार करता ? सेठ जी ठीकरे से मर्कतमणि हो गये।

* * * *

सुबह की बेला था, सेठ जी के दो सेवक—हलखोरवा और भनसरवा, उनकी शानदार कोठी के सायबान में, सहन पर टाट बिछाए बैठे थे और भीतर सेठ जी मसनद और गाव तकियों के सहारे लेटे "बम्बई का बाजार दर" देख रहे थे।

हलखोरवा और भनसरवा—दोनों सेठ जी के पुराने सेवक थे, और थे दोनों समवयस्क ही। हलखोरवा की उमर ५० साल की थी, और भनसरवा [illegible] की और प्रायः सेठ जी की भी अवस्था यही

५०।५५, वर्ष की ही होगी। नौकर मालिक सबों में, यही ४।५ वर्ष की बड़ाई-छोटाई का अन्तर था।

सचिन्त भाव से तमाखू की चिलम में दम लगाता हलखोरवा भनसरवा से आहिस्ते से बोला—"बाप-बेटे दुनोजन एकै मेहरिया पर मरत हैं, भगवानै भला करैं।

साश्चर्य व्याकुल मुद्रा से अपने हाथ में चिलम लेता हुआ भनसरवा ने पूछा—"कौन बाप-बेटा एकै मेहरिया पर मरत हैं हो?"

इधर-उधर निरीक्षण के बाद हलखोरवा और धीरे से बोला—"यही हमारे मालिक बाप-बेटे, अउर कउन!"

"अयँ—" मारे आश्चर्य के अपने मुँह की एरिया बित्ते भर फैलाता भनसरवा बोला—भला ई बात मालकिन जानत हैं!

हल०—अरे समूचा नगर जान गवा है, उन्हहीं के ई बात न मालूम होई।

चिन्तित आकृति से भनसरवा बोला—तब तो ठीकै कहत बाट कि भगवानै खैर करैं।

हल०—हाँ, तब क्या, हम झूठै कहत हई। तू देखत नाहीं जे छोटे सरकार (सेठ जी के सुपुत्र) बराबर बड़े सरकार से खींचे रहत हैं। बाप-बेटे में कभी भर मुँह बात भी नाहीं होती है।

भ०—हाँ, हाँ, अरे हम तो यह जानत रहली कि जे बाप-बेटे आपस में लिहाज करत हैं, हमैं का मालूम जे, ई दोनों बाप-बेटे एकै मेहरिया के 'इसीक' में तने रहत हैं। इसी समय सेठ जी के कमरे से घण्टी बजी।

"हाजिर हई सरकार!" कहते दोनों हाथ बाँधे कमरे में धँस पड़े। सेठ जी बोले—"देखो हलखोर! तुम हमारे पुराने सेवक हो, एक तरह से तुम दोनों ने हमारे यहाँ अपनी हड्डी ही गला दी, और इमान-

दारी के साथ, इसमें शुबहा नहीं। आज हम, तुम दोनों इमानदार नौकरों को कुछ इनाम देना चाह रहे हैं।"

दोनों हर्ष गद्गद् हो हाथ उठाकर एक ही साथ बोल उठे—"जय होय सरकार की, धर्माऔतार की, दिन-दिन तरक्की होय, राज बढ़े, वंश बढ़े, धन बढ़े।

ये लो, तुम दोनों!—पाँच-पाँच रुपया का नोट सेठ जी ने दोनों के सामने फेंक दिया, जिसे उठाकर दोनों ने अनेक बार झुक-झुककर सेठ जी की बन्दगी बजाई।

सेठ जी—तनक बाहर देखो तो कोई है?

दोनों दौड़े और क्षणों में वापिस आकर बोले—"नाहीं सरकार, एक चिड़िये का पूत भी नहीं है।

सेठ जी—अच्छा यहाँ आओ, नजदीक में, यह बण्डल ले लो, इसमें साड़ी है, समझे, बड़ी दामी साड़ियाँ हैं, सावधान रहना कहीं खोये नहीं। चले जाव चावड़ी बाजार देखा है न?

दोनों तत्परतापूर्वक चिल्लाकर बोले—"जहाँ पतुरिया रहत हैं, वही चावड़ी बाजार न?"

सेठ जी—चुप, बेवकूफ! आहिस्ता बोल। हाँ, हाँ, वही, वही, वहाँ बीबी जहूरन नाम की एक वेश्या रहती है, पूछ लेना किसी से, उसी को यह बण्डल दे देना, और कहना सेठ साहब आज शाम को आयेंगे। समझे न! खबरदार यह बात किसी को जरा भी मालूम न हो।

दोनों—नाहीं सर्कार! आप वेफिकर रहें, हम गदहा थोड़े चरावत हैं।

सेठ जी—अच्छा जाओ, जल्द करो।

× × × ×

बीबी जहूरन, देहली के चावड़ी बाजार की मशहूर तवायफ हैं।

छोटी उमर, छोटी कद, नथनों में साढ़े सात इञ्च व्यास का 'नथ' चक्र। बड़ी मीठी और लोचदार अदा! रग-रग और रेशे-रेशे में नाज, लुभाने के विविध ढङ्गों की प्रकाण्ड पण्डिता। बाप-बेटे दोनों ही उनके प्रेमीजन थे, और वह थी दोनों की ही प्राण-प्रिया प्रेमिका। बाप-पूत दोनों को ही मूँड़ खाना जहूरन के खास जौहर थे। और ये दोनों ही मूर्खराज बाप-बेटे उसके बेढब फँसे शिकार थे। जिस समय हलखोरवा और भनसरवा साड़ियों का बंडल लिये पहुँचे उस समय बीबी जहूरन स्नानादि से निपट कर कपड़े बदल रही थी।

हलखोरवा और भनसरवा ज्यों बीबी जहूरन के कमरे में उपस्थित हुए कि उनकी पीठ पर ही सेठ जी के सुपुत्र बबुआ करोड़ीचन्द जी भी आ पहुँचे। अपने पिता के सेवकों के आगमन का कारण उन्हें समझते देर न लगी। वे गुस्से से आग हो गये। उन्हें देख, दोनों के ही प्राण तड़फड़ा उठे। वे उनके क्रोध और उद्दण्ड स्वभाव से परिचित थे। दोनों ही माथा गाड़े भय-कम्पित नेत्रों से एक दूसरे को हेर रहे थे। मानो उनकी आँखें कह रही थीं—"अब क्या होगा? यहाँ तो बेढब फँसे।"

करोड़ीचन्द सक्रोध काँपते हुए बोला—"तुम यहाँ कहाँ रे?"

दोनों चुप, जमीन देखते रहे।

फिर करोड़ीचन्द ने पूछा—"अबे बता सूअर, यहाँ क्या करने आये थे? किस बदमाश ने तुम लोगों को यहाँ भेजा। यह सर पर क्या है?"

करोड़ीचन्द ने झपट कर बण्डल खींच लिया, जिसमें बड़ी बेश-कीमती छः साड़ियाँ, छः जम्फर, और चार जोड़े रेशमी मोजे थे। इन सामानों ने करोड़ीचन्द को और भभका दिया। वे गुस्से से बिलकुल अधीर हो गये, और दोनों के कान पकड़ कर झकझोरते हुए बोले—"यह सब सामान उसी अहमक तुम्हारे मालिक ने दिया, जो ५० और ५-५५ वर्ष की अपनी जिन्दगी की लम्बी मिया खतम कर चुकने

के बाद भी अपने मूजीपन से बाज नहीं आता। और तुम साले लोग उस शैतान के हथकण्डे बने हो? बुढ़ापे में भी वेश्याओं की चीजें ढोया करते हो? खैर आज बड़े मौके से मिले, तुम साले लोगों पर चोरी का जुर्म लगाकर अभी पुलिस को सुपुर्द करता हूँ।

पुलिस का नाम और चोरी का जुर्म सुनते ही दोनों के होश हवा हो गये। दोनों गिड़गिड़ाते-बिलबिलाते करोड़ी के कदमों पर कटे वृक्ष की तरह गिर पड़े, और उसके पाँव पकड़ बोले—"दोहाई है छोटे सर्कार की, हम तो दास हैं, जैसा हुकुम मिलता है, उसे पालने पर तो हम मजबूरे हैं। हमार का दोस सरकार! हमैं माफ करो दादा। बाप रे जेहलवा माँ हम एकौ घड़ी नाहीं बचब सरकार। दोहाई-दोहाई।" दोनों करोड़ी के पैरों में चिंउटे से चिपक गये।

करोड़ी—"अब तो यहाँ कभी कुछ लेकर नहीं आओगे न?

दोनों—ना सरकार!

क०—कसम खाओ, गङ्गा की ओर बाँह उठाओ।

दोनों ने बाँह उठाकर कसम खाई।

क०—अच्छा यह सब बात पिताजी से तो नहीं कहोगे?

दोनों—नहीं सरकार!

क०—वे पूछेंगे साड़ी दे आए तो क्या कहोगे?

दोनों—दे आये कहूँगा सरकार!

क०—अबे किसे दे आए कहोगे!

दोनों—आप जिसे कहो सर्कार हम कह देंगे।

क०—कहना साड़ी बीबी साहब को दे आये। अच्छा!

दोनों—अच्छा सरकार!

करोड़ी तनिक क्रुद्ध-सा बोला—"सब बातों में साले अच्छा-अच्छा किये जाते हो, मगर जरा भी असली बातों का पता बताया, और मुझे मालूम हुआ नहीं कि फौरन पुलिस में तुम दोनों को दे दूँगा, सेह

अच्छी तरह याद रखना, यह न समझना चङ्गुल से निकल गये। जानते हो न घर पर किसकी हुकूमत चलती है? माँ की, और माँ मुझे कितना प्यार करती हैं। जान रखना, मेरे खिलाफ जाने से तुम्हारा कभी खैर नहीं।

दोनों—ना सर्कार, हम आँख के अन्धा, शरीर से कोढ़ी होंय जो आपके खिलाफ कुछ कहैं।

करोड़ी—हाँ, वही समझा दिया। तुम पिताजी से कहना, साड़ी हम जहूरन बीबी को दे आये, उसने शाम को आपको बुलाया है। समझे!

दोनों—जी हाँ।

करोड़ी—यही कहोगे न!

दोनों—जी हाँ।

करोड़ी—सच-सच इमान से, धर्म से कहते हो न!

दोनों—हाँ, सर्कार धरम इमान से कहित है।

करोड़ी—अच्छा जाव!

सर पर पाँव रख दोनों भागे, जैसे कैदखाने से रिहा हुए हों।

× × × ×

शाम का वक्त है। चिराग बत्ती जले अभी आध घण्टे से ज्यादा नहीं हुआ था। सेठ जी कपड़े बदल कर फिटिन पर सवार हो टहलने को निकल गये हैं। उनकी कोठी के उसी सायबान में, उनके युगल द्वारपाल हलखोरवा और भनसरवा बैठे चिलम पी रहे हैं। हलखोर मुँह से धुआँ उगलता हुआ बोला—"देखो हम जो कहते रहे—"बाप-बेटे एकै मेहरिया पर मरते हैं" वो बात आई कि नहीं। देख आज का-का गुल खिला है। बाप-पूत दोनों उसी मुँझौसी पुतरिया के यहाँ गयेन हैं। आज बाप-बेटे में खूबै गुत्थम्-गुत्था होई।

भनसरवा—राम कहो, आज बड़े भलेमानुस का मुँह देख के उठे

रहे, नाहीं तो आज कैद में कलपत रहित। बाप रे बाप आदमी क ऐसन गुस्सा कौने काम क।

ह०—अरे चण्डाल है ससुर का पूत, हमार कान तो अबतक भकभकाति है, जौने जोर से वह अइंठा रहा।

भ०—तब आज ई दोनों "बाप-पूत" खूबै लात जूता करिहैं?

ह०—हाँ, एहमें का सन्देह बाय।

इसी समय ऊपर कोठे से सेठानी जी ने पुकारा—'भनसरवा!'

हलखोर हड़बड़ाकर बोला—"सुन! सुन!! मालकिन पुकारत हैं।"

हाँफता काँपता भनसरवा ऊपर गया।

सेठानी कड़ी आँखों से देखती बोलीं—"क्यों जी, तुम दोनों क्या बातें कर रहे थे?"

"कुछ नाहीं सरकार!"

सेठानी सक्रोध बोलीं—"चुप, झूठे, बदमाश! तुम्हारी सारी बातें अभी हमारी दासी सुनकर आई है। सच बताओ सेठ जी और करोड़ी इस समय कहाँ हैं?

भनसरवा बोले तो क्या बोले? चुप खड़ा रहा।

सेठानी फिर बोलीं—"नहीं बताओगे! अच्छा अभी तुम दोनों को पुलिस में देती हूँ।" भनसरवा दौड़कर सेठानी के चरणों पर गिर पड़ा और बोला—"सरकार हलखोर दादा सब बात जानत हैं, उनहीं से पूछ लेओ।"

हलखोर की भी पकड़ाहट हुई, और सेठानी के काफी डाँट-फटकार तथा भय दिखाने पर दोनों ने ही सारी बातें उगल दीं।

सेठानी—अच्छा तुम दोनों ने तो उसका डेरा देखा है?

दोनों—हाँ, सरकार।

सेठानी—तुम दोनों हमारे साथ चलो। बुलाओ ड्राईवर को और कहो 'कार' ले आए।

दोनों कलपते हुए हाथ बाँधे बोले—"दोहाई है सरकार की! हमके जिन ले जाव, हाथी-हाथी की लड़ाई में हम चिउँटी की जान चल जाई। बड़े-छोटे दोनों सरकार समझिहैं कि हमी ने आपसे सब बातें बताय दीं, अउर लिवाय आये हैं, नाहक हम मरि जाब सरकार, कैद दिलाय देहैं।

सेठानी—किसी की मजाल नहीं जो मेरे रहते तुम्हें कैद करवा दे, विश्वास करो। मैं तुमको पूरा इनाम दूँगी।

दोनों—अरे सरकार इनामैं के लोभ माँ तो मारे गये।

सेठानी—मैं जो कहती हूँ करो, तुम्हारा कोई कुछ बिगाड़ न सकेगा।

× × × ×

उधर सेठ जी बीबी जहूरन से अभी घुल-घुलकर बातें ही कर रहे थे कि करोड़ीचन्द के आगमन की उन्हें सूचना मिली। बेचारे मारे भय के भाड़ में पड़े चने-सा भड़भड़ा उठे। यह अभागा ऐन मौके पर ही खुफिया पुलिस-सा आ टपकता है।" वे जहूरन से बोले—"उसे कहला दो, वह वापस जाये।"

बित्ते भर जीभ बाहर निकालकर जहूरन बोली—"हुजूर यह क्या कहते हैं, हमारी शामत आ जाएगी, इतनी मार पड़ेगी कि छः मास तक उठना मुहाल रहेगा। आप तो जानते ही हैं जैसे जिद्दी और गुस्सेवर वह हैं।

सेठ जी—तब मैं! मैं किस रास्ते बाहर निकलूँ।

जहूरन—रास्ता सिर्फ एक वही है, जहाँ हुजूर के साहबजादे साहेब खड़े इन्तजार में हैं। हाँ, आप छतपर चले जाइये।

सेठ—"अगर वह छत पर ही चला आया तो!"

जहूरन—हाँ, तब तो मुश्किल होगी।"

—तनक झुँझला कर बोले—"सिर्फ मुश्किल ही न समझो,

जैसा इस बाप-विद्रोही बेटे ने मेरे कुल में जन्म लिया है। झटपट उलझ ही तो जाएगा और नतीजा यह होगा कि मैं बुरी तरह पिट जाऊँगा। मुझे क्या मालूम था, नहीं तो मैं अपने आदमी लिये आता। करोड़ीचन्द ऊपर चढ़ता हुआ बोला—"बस अब ज्यादा इन्तेजार नहीं कर सकता, चाहे कोई रईस हो या रईस के बाप, उन्हें फौरन बाहर करो।

गुस्से में डूबी हुई करोड़ी की कड़कती आवाज ने सेठजी को ही नहीं बल्कि बाईजी को भी व्याकुल कर दिया। वे घबराई हुई सी बोलीं—"अल्लाह के वास्ते रहम कीजिए नहीं तो भारी आफत नाजिल हो जायेगी। यह मेरी कपड़ा टाँगनेवाली आलमारी है, इसमें खाने नहीं हैं। आप तकलीफ कर के फौरन इसीमें खड़े हो जाइये। मैं बाहर से किवाड़ अँटका दूँगी। और किसी बहाने उन्हें टाल दूँगी, फिर रातभर आप आराम से बिताइयेगा। लीजिए जल्दी कीजिए नहीं तो अब वे आना ही चाहते हैं।"

बेचारे सेठजी भी मजबूर थे। क्या करते! जहूरन ने चटपट उनका हाथ थामकर दीवार में लगी अपने उस आलमारी में उन्हें खड़ा कर दिया, और किवाड़ भिड़का दिये।

अब सदर दरवाजे का किवाड़ा खुला, भनभनाते हुए करोड़ी ने प्रवेश किया, और गरजकर पूछा—"क्यों किवाड़ खुलता क्यों न था? कौन आया है? वही मेरा मूजी बाप! जहूरन बड़े प्यार से उसके कन्धे पर हाथ रखती हुई बोली, जैसे वह अपनी मीठी बातों का शर्बत पिलाकर उसके क्रोध की तुर्सी मिटाना चाह रही थी—"भला आप भी क्या-क्या रङ्ग बाँधे आते हैं, यहाँ किस मरदूद का बाप दादा मुँझौसा अपना मुँह पिटाने आएगा? यहाँ किसी के बाप-दादे का रखा ही क्या है?

उसके हाथों को सबल हटाता हुआ सक्रोध करोड़ी बोला—

"रहने दो अपने ये चकमें। जिस मूजी को छिपा रखा है उसीके सामने अपने ये चोंचले और चकमे दिखलाना, यहाँ तो सब जाने-समझे बैठे हैं।"

जहूरन ने भी अब समझा कि यह तुर्शी, प्यार की शर्बत से न मिटेगी, बल्कि उसे बुझाने के लिये इससे कड़ी तुर्शी की जरूरत है। अतएव वह भी अब जरा तुनक कर बोली—"क्या जानें बैठे हैं साहेब? किस हरामजादी ने किस हरामजादे को छिपा रखा है? आपकी हालत तो कभी-कभी अजीब नशाखोरों सी हो जाया करती है। सच है जिसे जितना भी प्यार करो, वह उतना ही दुत्कार बताता है। जहूरन उन तवायफों में नहीं हैं, जो एक के बदले चार को बुलाती है। यहाँ तो सिर्फ एक ही की चाह है। न विश्वास हो, न आइये मेरे पास।

जहूरन की इतनी साफ-साफ और रूखी बातां से करोड़ी कुछ दबा, कुछ शान्त हुआ, फिर उसने कहा—"मुझे मालूम था मेरे पिता आज यहाँ आने वाले हैं।"

जहूरन उसी स्वर में बोली—"आपको मालूम होगा, पर मैं तो आपके पिता की सूरत से भी वाकिफ नहीं, गोरे हैं या काले!"

करोड़ी ने समझा, शायद हलखोरवा और भनसरवा साले ने सब बातें उनसे कह दीं, इसी कारण वे न आए, नहीं तो जहूरन मुझसे झूठ न बोलती। वह प्रेमातुर हो जहूरन से लिपट गया, प्यार भरे मान से जहूरन ने भी जरा इधर-उधर करना शुरू किया कि हठात् करोड़ी चीख पड़ा—"अरे वह क्या? माँ—!"

फिर उसकी बोलती बन्द हो गई, जैसे किसी ने उसकी जुबान खींच ली। जहूरन भी काँपती सी दूर जा खड़ी हुई, उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। वह अभागिन इस देवी के पति और पुत्र

दोनों पर ही डाका डाले, अपने घर में छिपाए बैठी थी। अपराधी का हृदय सशंकित होता ही है।

सेठानी ने कड़क कर पूछा—"करोड़ी! तुम तो यहाँ और बाबूजी कहाँ? बोलो! करोड़ी नम्रतापूर्वक बोला—"मैं तो यहाँ उन्हीं को ढूँढ़ने आया था माँ!"

सेठानी—पर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तुम भी खो गये! क्यों! झूठे बद-माश! शर्म करो, घर में जवान लुगाई बैठी है, और तुम इस कुत्ती के पास 'बाप-बेटे' दोनों ही मुँह काला करने और आपस में लात जूता करने आया करते हो। बता री! ओ वेश्या! सेठजी को कहाँ छिपा रखा है।

जहूरन—काँपते कण्ठ से—"सरकार वे नहीं आये यहाँ!"

सेठानी—"नहीं आये यहाँ? अच्छा! अरे हलखोरवा तुम दोनों ढूँढ़ो तो मालिक को, अभी सब पता चल जाता है।

हलखोरवा और भनसरवा दोनों ढूँढ़ने लगे। हठात् हलखोरवा का हाथ उसी आलमारी पर पड़ा, जिसमें बन्द पड़े बेचारे सेठजी का प्राण मारे गर्मी और घबराहट के आध घन्टे से सक्क-फक्क हो रहा था। हलखोरव का हाथ ज्यों उस आलमारी पर पड़ा कि सेठजी ने समझा—"अब क्या अब तो पकड़े गये, मारे घबराहट के उनके मुख से एकाएक निकल पड़ा—"हूँक् हूँक्-हूँ-ऊँ-ऊँ-ऊँ।"

"अरे बाप रे बाप! अरे-भूत रे-भूत! परतच्छे (प्रत्यक्ष) प्रेत रे दद्दा!" चिल्लाता हुआ हलखोरवा जो वहाँ से उछला तो भहराता हुआ सेठानी के पैरों पर आ गिरा। उसका थुथना रक्तप्लावित हो गया, और मारे डर के वह झूमने लगा। सेठानी ने कहा—क्या है रे! क्या है रे!! बोल। कहाँ भूत है! हलखोरवा ने काँपते हुए बताया—उ—उ—उसी, आल-आलमारी में। कहता है—हाऊँ-हाऊँ! खाऊँ खाऊँ!!"

सेठानी ने स्वयं उस आलमारी को खोला। पसीने से लथपथ परीशान शकल सेठजी बाहर निकले। उनकी आँखों में विवशता थी, दया याचना थी। करोड़ी क्रोध से काँपता जहूरन को घूर रहा था, उसके नेत्रों में विक्षोभ था, ज्वाला थी, और था उग्र प्रतिहिंसा का क्रूर भाव।

जहूरन शर्म से मरी जा रही थी, उसके नयनों में निराशा थी—भय था, और था अपने पापों के लिए घोर पश्चात्ताप।

हलखोरवा-भनसरवा, दोनों भौंचक थे, घबराये थे, स्वामी की दशा से दुःखित थे।

सेठानी प्रसन्न थीं, उनके नेत्रों में क्षमाशीलता थी, और था अपनी विजय पर अपार हर्ष। व्यङ्गपूर्वक उन्होंने कहा—चलो घर। धन्य हो तुम दोनों—"बाप-बेटे!"

११

कविवर घोंचानन्द जी

कविवर घोंचानन्द जी ने अपना शुभ नाम क्यों ऐसा बेतुका भोंड़ा रख लिया, कवियों के सुनहले कल्पना-संसार से एकदम अपरिचित, अनभिज्ञ, हम एक संसारी आदमी—जिसके सर प्रतिपल प्रो० रामदास गौड़ के प्रेत-पिशाचों की भाँति—"नून-तेल-लकड़ी" की राक्षसी चिन्ता नाचा करती है—क्या कारण बता सकते हैं। इसे तो अलबत्तह कोई कला कुमार कविपुङ्गव ही बता सकता हैं, जो शेली कीट्स, भवभूति और कालीदास की आत्मा लिये भव-भ्रमण कर रहा हो।

संक्षेप में हमने यही सुना था कि कविवर घोंचानन्द जब परीक्षा भवन में ही अपने एक सहपाठी की नकल करते, ठीक सेंध पर ही पकड़े गये तो परीक्षक ने एक लम्बी फटकार बताकर परीक्षा-भवन से इन्हें निकाल बाहर करवा दिया। इस सुघटना से कविवर घोंचानन्द जी को इतनी खुशी हुई कि शायद उतनी खुशी मुसोलिनी को अबीसीनिया विजय करने पर न हुई होगी। "चलो रटंत से पिण्ड छूटा, अब खुलकर कविता-कामिनी की अराधना होगी।" परन्तु कविजी के जीवन की यह सुघटना उनके पिता श्री पण्डित जी महाराज के हेतु "रास तफरीह" से कम वज्र-प्रहारक न हुई! पर वे करते क्या 'राष्ट्रसंघ' की भाँति मन-ही-मन कलप कर रह गये। वे जानते थे हमारी बिलबिलाहट का अणु-मात्र भी असर इस मूर्ख कुवंश पर न पड़ेगा, जैसे "राष्ट्रसंघ" की "नकधुनौअल" का प्रभाव मुसोलनी पर न पड़ा। वे सब प्रकार अपनी स्थिति की अनुपयोगिता—आवश्यकता समझ चुके थे, इस हेतु उन्होंने चुप ही रहना अपने लिए कल्याणकर समझा। पर उनकी इस अखंड मौन-साधना का अर्थ उनके गहन काल्पनिक सुपुत्र कविवर घोंचानन्द जी ने यह लगाया—"हमारे जीवन की इस सुन्दर सुघटना पर पिताजी भी प्रसन्न एवं घोर तुष्ट हैं, और उनकी इसी कल्पना का सुन्दर सम्बाद जब पिताजी के कर्ण-कुहरों में बन्दूक की गोली-सा सन्सनाता घुसा तो वे मारे क्रोध-पीड़ा के बौखलाकर बोल उठे—"घोंच है अभागा!" बस आपके इस शुभ नामकरण का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है।

× × × ×

कविजी के पिताजी—श्री पण्डित जी अपने कमरे में बैठे, अपने "केस" के कागजों को उलट-पलट रहे थे। मामला था, उनके गोत्र की एक विधवा अपने एक भाञ्जे को गोद ले चुकी थी, और उसी गोद को नाजायज करने के लिए पण्डित जी का खाना-सोना हराम हो रहा था। क्योंकि अपने परम सुचतुर बबुआ घोंचू के लिए भी तो कुछ

"दाल-रोटी" का जोगाड़ कर सुरलोक सिधारना पितृकर्मों में ही सम्मिलित था। अपने कर्मानुसार तो बिचारे दोनों पिता-पुत्र कबसे भूँजा फाँके रहे थे। भविष्य में जो कुछ आशा थी, उसे घोंचू का कवित्व प्रेम ले डूबा। अब तो खामखा कुछ प्रबन्ध करना अवश्यक ही था। पिताजी तो इधर पुत्रहित कामना में रत थे, और उधर पुत्र जी कविता देवी की उपासना में बेहोश थे। कागज देखते ही देखते पण्डित जी ने पुकारा—घोंचू! अबे ओ घोंचवा! सुनता नहीं रे? मर गया क्या रे ससुर।

परन्तु उधर घोंचानन्द जी जिस अथाह कविता-सागर में पड़े ऊभ-चुभ हो रहे थे, वहाँ पितृ-पुकार का प्रवेश ही कहाँ था? वे तो बेसुध थे कविता पाठ में। झखमार कर—पुकारते-पुकारते हारकर, स्वयं पण्डित जी बड़बड़ाते उठे और उनके कमरे की ओर गए। किन्तु जो दृश्य देखा कि ठिठके रह गये। पागलों की तरह दोनों हाथ बेतहाशा भाँज-भाँज कर बड़े जोशो-खरोश से जाने क्या घोंचू पण्डित बड़बड़ा रहे थे। पण्डित जी ने तनक, कान भिड़ाकर बगैर इसे सुन लेना भी मुनासिब समझा। आखिर यह क्या फितूर है, इसमें कौन-सा मजा है जो इस कम्बख्त के दिमाग में कुतुबुद्दीन की मीनार की भांति गड़ी है। किवाड़ में कान लगाकर पण्डित जी ने सुनी अपने सुपुत्र की काव्य रचना!—

अरी ओ! ठहर जरा री मधुबाला।
व्याकुल हैं मेरे प्राण पिलादे तू प्यारी हाला!
ओ मधुबाला—!
ले ढाल, ढाल, मेरे कातर कण्ठों में!—
कल् कल् कल्—छल् छल् छल्!!!
आह—! *पल पल पीड़ा से प्राण थकित है।*
आहों से घोर व्यथित है॥

हूँ जग जीवन से तङ्ग—भङ्ग से जमा न अच्छा रङ्ग ॥

प्रिये तू ढाल, प्रिये तू ढाल

वही—!

कल् कल् कल्—सुना दे—छल् छल् छल्!!!

मूक आहों की है भरमार—न बजता हृत्तंत्री का तार

अरी ओ प्यारी मधुबाला—पिला जल्दी कर तू हाला

खुला है असुर-सा मूँ।

उड़ेल घड़ाधड़ हाला तूँ ॥

वही फिर—

कल् कल् कल् कल् कल्

हायरी

छल् छल् छल् छल् छल्

पण्डित जी अब ज्यादा बर्दाश्त न कर सके। अपनी इस साठ साल की लम्बी उमर तक कभी उन्होंने ऐसी "हाला" की "कल-कल" "छल-छल" कविता न सुनी थी। वे बाहर ही से चिल्ला पड़े—अरे ससुर घोंचवा, किस मरदूद ने तेरे को ऐसी कविता सिखलाई। न कहीं यमक, न कहीं नाप-तौल की मर्यादा, और न अर्थ भाव का पता। जा अभागे, हमने तो समझा था कि चलो न पढ़ सका तो क्या हुआ, कवियों की भी प्रतिष्ठा होती है, पर इस "मधुबाला" की 'हाला' वाली कविता से तेरे को कौन पूछेगा ? तूँ घोंच ही नहीं पूरा पागल भी है।

बाप के ऐसे शुभाशीष श्रवण कर घोंचानन्द बौखला उठे। वे उनके जूते-लात सहर्ष सहन कर सकते थे, परन्तु अपने कवि-कर्म पर पिता का यह निर्मम पाद-प्रहार उनकी सहनशक्ति के परे था। वे साधिकार दृढ़तापूर्वक बोले—"अब 'सूर' "तुलसी" और "बिहारी"

का जमाना लद चुका, अब तो "द्वैत" में "अद्वैत" की भावना, "साकार" में "निराकार" की स्थापना एवं 'ससीम' में "असीम" की कल्पना करना ही कुशल कवि-कर्म समझा जाता है। और—

"अबे चुप भी रह रे पगले—" पण्डित जी ने बीच ही में डाँटा—"बड़ा चला है दर्शन-शास्त्र छाँटने! "हाला" और "मधु-बाला" की प्याली इन्हें निराकार और साकार के भेद-भाव समझने देगी? अरे जबतक जिन्दा हूँ तबतक खूब "ढाल-काट" 'हाला' और "मधुबाला"की करले, फिर तो तेरे को कोई घास छीलने को भी न पूछेगा रे बेहूदा!

घोंचानन्दजी चुप हो रहे, यह सोचकर कि इस पुराने छकड़े को वे अनन्त पथ पर क्यों घसीटें?

पण्डितजी चश्मे के भीतर से उन्हें कड़ी निगाहों से घूरते हुए बोले—"अच्छा सुन, बा० चतुरानन सहाय वकील का डेरा तो तुमने देखा है?

घों०—कौन चतुरानन सहाय? जो नारिअल वाली गली के नुक्कड़ पर रहते हैं, जहाँ कविवर घोंघाबसन्त जी का वासस्थान है, वही न?

पण्डितजी ऊबते से झुँझलाकर बोले—हत्तुरी घोंघाबसन्त की ऐसी तैसी! मैं पूछता हूँ वकील का डेरा, यह बताता है घोंघाकवि का वासस्थान! अबे वहाँ घोंघा, सेवार, सितुहा, दोहना, मगर-घड़ियाल, कोई नहीं रहते, सिर्फ वकील साहब की ही वहाँ पोख्ती इमारत है। समझा! ले यह कागज, देख अच्छी तरह सँभालना, वही गोद वाले मामले के सब जरूरी कागजात हैं। खबरदार जो कहीं खोया! इसे ले जाकर तुम उन्हें दिखलाओ जिससे वे बहस के लिये तैय्यार हो जाएँ, तबतक मैं भी आता हूँ। तुम जानना, कहीं रास्ते-वास्ते में अड़े या रुके तो!

कपड़े की एक छोटी सी टुकड़ी में कविवर घोंघानन्द जी ने कागजों को गुलटकर बाँध लिया और चल पड़े।

× × × ×

अपने मुहल्ले की गली से चक्कर काटते वे ज्यों सड़क पर आये कि हठात् उनकी कविरत्न "कुक्कुट" जी से मुठभेड़ हो गई। कुक्कुटजा ने छूटते ही पूछा—"क्यों भइय्या घोंचू, यह काँखों की कन्दरा में 'बाली'-सा किस 'रावण' को दबाए बैठे हो, क्या कोई नवीन कृति है?

घोंचूजी सखेद बोले—ना भाई, यह मुकद्दमे का बवाल है।

कुक्कुट जी भौं सिकोड़ कर आश्चर्य से मुँह बाकर बोले—"एँ—! क्या कहा? मुकद्दमे का कागज? अरे भले आदमी, भला मामले के रद्दी कागजों से, जिसमें न तो कुछ कला है, न कविता, केवल सूखी-सूखी "गिटपिट" की बकवास है, उससे और हम कला-प्रेमियों से क्या सरोकार। राम! राम!! अजी फेंको भी इस कूड़े को। आओ चलो हम तुम्हें अपनी एक नई रचना सुनायें। घोंचूजी सकपकाते हुए बोले—मगर यार इन काग़ज़ों को तनिक बा० चतुरानन सहाय वकील को दिखलाना भी आवश्यक था। पिताजी की कड़ी ताकीद—

"अजी मारो चतुरानन, पंचानन और दशानन सहाय को—" कुक्कुट जी बीच ही में उलझ पड़े—तुम्हें मालूम नहीं, कोमल कल्पना और कठोर कचहरी से गुड़-मिर्च सा नाता है, कविता जितनी मीठी होती है, कचहरी चाण्डालिन उतनी ही तीती होती है। सच जानो कचहरी की सरपट दौड़ में तुम्हारे कवि-कल्पना की "टाँग" टूट न जाए तो, मेरे नाम बिल्ली पाल रखना। चलो-चलो तनिक सुनो भी तो मेरी कविता, बिलकुल निराली और मौलिक रचना है। ईश्वर की सौगन्ध, चौंक पड़ोगे उसकी भावमयी कोमलकान्त पदावलियों को सुनकर। कवि संसार को एक नई और बिलकुल बेजोड़ अनमोल कृति दी है मैंने।

कविवर कुक्कुट जी ने अपनी कविता के सम्बन्ध में कुछ ऐसे लुभावने ढङ्ग से बातें की कि घोंचानन्द उनकी कविता सुनने के हेतु कुछ व्याकुल और उत्कण्ठित से हो उठे। उन्होंने कहा—"अच्छा चलो, दो मिनट सुन भी लें।"

दोनों ही कविवर कमरे में आए और कविता पाठ प्रारम्भ हो गया। "देखो इस जोड़ की चीज यह है, मैं सुनाऊँ।"—"देखो यह पद सूर" और "बिहारी" की भी कल्पना से भी परे है।"—"जरा इसे सुन लो, पन्त, प्रसाद, निराला, भी तो क्या खाक ऐसी ऊँची कल्पना करेंगे।" दोनों ही कवि-पुङ्गवों में इसी प्रकार बातें होने लगीं। दोनों ही कला-प्रेमी अपनी-अपनी रचनाओं को संसार की सर्वश्रेष्ठ कृत्ति, अमर रचना बताने में उलझे पड़े थे। कुछ देर वाद-विवाद होता, फिर कविता पाठ। फिर आलोचना-प्रत्यालोचना और फिर कविता पाठ। गोल्डस्मिथ, दान्ते, शेक्सपिअर, भवभूति, दण्डी आदि सभी देशी-विदेशी कवियों को इन कवि-केहरियों ने परास्त कर उनकी अयोग्यता का फतवा दे दिया। और दोनों ही कट्टर कला-उपासक सज्जन कविता-पाठ की धुन में जो डूबे फिर उन्हें काहे को समय-बेला का ध्यान रहता? १२ बजा, फिर एक-एक करके एक-दो-तीन-चार और पाँच! परन्तु जब कमरे में पूरी तरह अन्धेरा छा गया तब कविवर घोंचानन्द के कलाप्रेम ने करवट ली। वे कुछ घबड़ाये से भर्रायी हुई आवाज में बोले—"अरे यार शाम हो गई, और अब तक हम यहीं अँटके रहे। आज कुशल नहीं। राम जानें मामले का क्या हुआ?"

कुक्कुटजी लापर्वाही से बोले—"तुम भी यार अभी गोबर के गोबर ही रहे! अजी कवि जी, जो कलावतार है, वह बेला-घड़ी या टाइम का पाबन्द होता ही नहीं? वह तो चारो पाँव स्वच्छन्द एवम् निर्द्वन्द होता है। और सच मानों जिसमें ऐसी स्वच्छन्दता का अभाव

है वह करोड़ों वर्ष नाक रगड़ने पर भी कवि तो क्या कवि की पूँछ भी नहीं बन सकता। सच्चे कलाकारों की पहली पहिचान है, उनकी स्वच्छन्दता। वे किसी हुकूमत और नियन्त्रण के कायल नहीं होते। क्या नहीं सुना है—"कवियोः निरंकुशाः।"

कुक्कुट जी ने कलाकारों की पहिचान की जो व्याख्या की, उसे श्रवण कर परम कलाकार कविवर घोंचानन्द जी का कवित्व-मान कुछ सुगबुगाया। कुछ धीरज भी बँधा। वे बड़ी शान से बोल गये—अच्छा जी, क्या पर्वाह, देखा जाएगा। कचहरी से हम कौन कम अहम् कार्य में लगे थे। पर वे जब सड़क पर आये तो उनका दिमाग चौड़ा पड़ गया, धीरज पल्ला छोड़ गया, बुद्धि चकरा गई, वे आप ही आप बोल उठे—"बाप रे, सुबह के बैठे-बैठे शाम हो गई। बाबूजी गुस्से में लाल तवा से होड़ ले रहे होंगे। हे भगवान, मुकद्दमे में कुछ गड़बड़ी न हुई हो।" मुकद्दमे की बात याद आते ही घोंचूजी और विकल हो गये और रहा सहा होश भी हिरन हो गया। बाप की उग्र कर्कश मूर्ति यमदूतों की नाईं उनके नेत्रों के सामने नाचने लगी। वे बेहोश होकर गिरने ही को थे कि एक लालटेन-पोस्ट से उठङ्ग गये, उनकी आँखें बन्द हो गईं।

जैसे किसी ने बड़े जोर से उन्हें झिकझोर दिया। हड़बड़ा कर उन्होंने ज्यों आँखें खोलीं, देखा, सामने पिताजी की व्याकुल और व्यग्र सप्राण-प्रतिमा क्रोध से पत्थर-कोयले के अङ्गार-सी बनी खड़ी है। पिताजी सर पर दुहत्थड़ मारकर बोले—रे गदहे, आज सब दिन का किया कराया तूने बंटाढार कर दिया? अरे अभागा अहमक! जब तेरे को वकील के यहाँ जाना मंजूर न था, तो उसी दम मुझसे क्यों न कह दिया—"मैं कविता का मजा लूँगा, वकील के घर न जाऊँगा।" ले अब फाँकता रह धूल, और ढालता रह "हाला" का हलाहल। बाप रे बाप, सुबह का निकला-निकला अब दर्शन

दिया ? सारे नगर का कोना-कोना छान मारा, पर तेरा पता काहे को लगे ? और आवारों का पता पाता ही कौन है ? मुकद्दमा चौपट हुआ अलग, परीशानी हुई अलहदा। ला, दे, सब कागज-पत्तर कहाँ हैं ?

घोंचूजी को अब याद आया—"हे भगवान कागज़ तो कुक्कुट जी की कोठरी में ही छूट गया। यह भूल पर भूल!" बेचारे दम साधे रह गये। पिताजी फिर चिग्घाड़ते हुए बोले—"अरे कविता ने तुझे बहरा भी बना दिया क्या रे! बता सब कागज कहाँ है, या उसे भी कहीं गँवा आया ? बोलता है कि लगाऊँ—

डरते-डरते रुक-रुककर घोंचूजी बोले—व—व—व—वह,—क—क—कवि—व—र र, कु—कु—कुक्कुट जी के डेरे पर ही धोखे से छूट गया।

ललाट पीट कर पण्डित जी बोले—रे चाण्डाल, तेरा सत्यानाश हो। क्या तूने उसे अपनी कविता वाले कागज से भी गया गुजरा समझा रे मूर्ख! जिसपर तेरी दाल-रोटी, आबरू-इज्जत, का दारोमदार है! जा, ससुर अब भीख माँगोगे।

पिता पुत्र दोनों सर पर पैर रखकर दौड़े। उस समय कविवर कुक्कुट जी, उस सरकारी कागजोंमें से एक की पीठ पर कविता रगड़ रहे थे और मन ही मन कागज की सुन्दरता, सुचिक्कणता पर परम पुलकायमान हो रहे थे। पण्डित जी ने जो अपने प्राणवत आवश्यक कागज़ातों की यह दुर्गति देखी, उनकी आँखों से आग बरसने लगी। झपट कर उन्होंने कागज़ों को छीन लिया कि कुक्कुट जी चीख पड़े—अजी हाँ, हाँ, यह क्या किया साहेब! आप तो बड़े वो मालूम होते हैं। अजी रुकिए रुकिए, उसमें बड़ी सुन्दर सरस कविता है, अजी जनाब लोकोत्तर रचना है, अमर कृति है। रहिए, रहिए, मुझे दूसरे कागज पर लाइनें उतार लेने दीजिए।

"अरे भाड़ में जाओ तुम, और चूल्हे में तुम्हारी कविता!

बदमाशों तुम दोनों ने मेरा संहार कर दिया।" कहते हुए पण्डित जी क़ाग़ज़ लिये भागे घर की ओर और उनके पीछे—हाय! मेरी कविता! हाय मेरी कविता!! चिल्लाते कुक्कुट जी भी दौड़ चले। और कविवर घोंचानन्द फिर वहीं बैठकर काव्याराधना में लीन हो गये।

१२

दो सौन्दर्य पारखी

"पबलिक पार्क्स" आजकल लोगों के लिए कई कारणों से नेहायत फायदेमन्द और बड़े मुफीद साबित हो रहे हैं। क्योंकि वहाँ मनोरंजन, दिलबस्तगी और "माइन्ड रिफ्रेशमेन्ट" के अनेक साधन, एक ही जगह बिलकुल धरे-धराये मिलते हैं। चाहे आप किसी रुचि और विचार के हों, वहाँ आपके भी दिल-बहलाव के हेतु कोई न कोई चीज़ अवश्य ही देखने को मिल जायगी। अगर आप कवि हैं, और कूप-वापी, वन-बाटिका के प्रेमी हैं तो पार्क में वह भी मौजूद है। यदि आप प्रकृति-प्रेमी हैं, तो देखिए बावली में रङ्ग-बिरङ्गी मछलियाँ "सुर्र-सुर्र" करती भागी जाती हैं, बत्तख "चख़-चख़" करते तैर रहे हैं, अनेक पुष्प-लतिकाओं और वृक्षों से पार्क भरा पड़ा है, लूटिये खूब प्रकृति-शोभा का आनन्द और "बिलकुल मुफ़्त"? हाँ, और अगर आप सौन्दर्य-दर्शन के प्रेमी हैं तो इस परम पदार्थ का भी यहाँ अभाव नहीं है। एक-सी-एक सुन्दरी सुकुमारियाँ, विविध वस्त्रालंकार-विभूषिता यहाँ पधारती हैं, मौक़े की जगह तज़बीज़ कर

आँखें बिछाए पड़े रहिये, फिर पीजिए खूब डटकर रूपसुधा, न रोक है न टोक। चाहे आप दिनभर, रात भर पड़े-पड़े शोभा माधुरी का प्रिय प्रसाद चखते रहें, भय की कोई आशंका नहीं।

हम समझते हैं, हमारे मुहल्ले के दो विकट सौन्दर्य-पारखी सज्जन इसी सौन्दर्य सुधापान की ही प्रबल क्षुधा-पिपासा से प्रतिदिन पार्क में पधारते थे। दोनों ही सज्जन समवयस्क थे। जवानी का ज़माना था, चेहरे पर लागर्ज़ी लोट रही थी, मुखड़े पर मस्ती झूम रही थी। ईश्वर ने इन्हें रूपवान भी बनाया था और उस रूप को सजाने की इन्हें तर्कीब भी मालूम थी—सौन्दर्य पारखी ही तो ठहरे? अमीर आदमी के बाल-गोपाल थे, किसी कालेज के विद्यार्थी थे और गर्मी की छुट्टियों में घर तशरीफ लाए हुए थे।

× × × ×

ग्रीष्म की ठण्ढी सन्ध्या, ईश्वर के अशेष अनुग्रह का प्रतिफल। पार्क में छिड़काव हो चुका था। फव्वारे खुल गये थे, और उनसे वारिबून्द की भाँति जल फुहारें मार रहा था। पार्क-प्रेमियों का एक बड़ा-सा काफला भूखे भिखारी की भाँति पार्क में धँसता चला आ रहा था, और उसमें हमारे ये दोनों "सौन्दर्य पारखी" सज्जन भी थे। अच्छा हो आप लोगों के शुभनाम भी आप सुन लें। एक का नाम तो राधामोहन बाबू है और दूसरे का कृष्णमोहन बाबू। यह राधामोहन और कृष्णमोहन की अद्भुत् जोड़ी पार्क-परिक्रमा कर रही है और परस्पर बातें भी हो रही हैं।

राधामोहन बाबू बोले—क्यों भाई कृष्णमोहन, आज तो पार्क का रङ्ग ही कुछ निराला है, पर भाई, अबतक हमारे लायक कोई चीज नजर न आई। क्योंकि हम बेजान और बे-जुबान "नेचर" (प्रकृति) की मूक और निरर्थक शोभा के उपासक नहीं। यदि चिड़ियों की "चें चें" मुर्गों की "टें-टें" और वृक्ष लताओं की "साँय-साँय" में

ही सङ्गीत की मोहिनी ध्वनि होती तो, "वीणा" "बेला" और "सितार" आदि के आविष्कार की कोई आवश्यकता न होती और न गायकों को ही कोई महफिलों में बुलाता। यही 'बत्तख' 'बुलबुल' पपीहरे-टिटहरी आदि पिंजड़ों में बन्दकर महफिलों में रख दी जातीं और इन्हीं की सङ्गीत सुधापान कर लोग परितृप्त हुआ करते। क्यों?

समर्थन के शब्दों में कृष्णमोहन बाबू बोले—"हाँ इसमें क्या शक!"

अब बातों का सिलसिला कुछ दूसरी ही ओर मुड़ा। राधे बाबू ने कहा—"अच्छा तुमने तो उसे देखा है?"

भौंचक से कृष्ण बाबू बोले—किसे—?

मर्मभरी मुसकुराहट से सङ्केत करते राधा बाबू बोले—अरे—उसे—उसे—!—ओफ्! तुम भी यार कभी-कभी किस दलदल में धँस जाते हो। अजी उसे—उस गली के नुक्कड़ पर रहने वाली को—समझे—?

"ओ—समझा-समझा!" प्रसन्नाकृति से कृष्ण बाबू बोले—"वही न जो चलती है तो बड़ी ऐंठकर।"

"हाँ, हाँ, वही—वही—"हा, हा, हा, हा"—राधे बाबू हँसते हुए बोले—"अच्छा यार वह भी क्या समझती है अपने को? मैं भी हूँ कोई परीजाद? क्यों?"

कृ०—सिर्फ परीजाद भर ही नहीं, अजी साहब उसकी अँकड़ और ऐंठ तो डंके की चोट यह बताती है कि अगर कहीं संसार भर की सारी शोभाओं का एक ही "एडीशन" है, तो वह मैं हूँ।

"हा, हा, हा, हा, हा, हा—" एक डबल ठहाका लगाकर राधे बाबू बोले—"पर यह उसकी महज नादानी है, उस बेवकूफ को पता नहीं खुबसूरती किसे कहते हैं, उसकी जरा-सी मैल भी उसे नहीं मिली। खैर, इस चटक-मटक पर मरनेवाले कोई और चोंधरचन्द

होंगे, यहाँ तो सारा "नख-शिख" रटे बैठे हैं। सौन्दर्य की एक-एक बारीकियों के गहरे पारखी हैं। इस नकली चटक-मटक के चकमें में हम क्यों जूझने चलें! क्यों?

कृ०—हाँ हाँ, इसमें क्या शक?

सहसा इसी समय दोनों सज्जनों को सुन पड़ा, एक १२–१३ वर्ष का बालक कह रहा था—"महाशय जी, तनिक बगल हो जाइए।"

किनारे हटते हुए इन दोनों सज्जनों ने देखा, बालक के पीछे एक वृद्धा हैं, जिनके अगल-बगल चार सुन्दरी सुकुमारियाँ बङ्गीय ढङ्ग से बड़ी बेशकीमत साड़ी पहने, बड़े आकर्षक ढङ्ग से अपने को सजाए, माथा गाड़े, बड़ी ही मन्थर गति से—आहिस्ता-आहिस्ता मचल-मचल कर चल रही हैं। मानो उनके एक-एक पाद-प्रक्षेप में यह भाव छिपा बैठा हो कि, देखें वसुन्धरा हमारे सौन्दर्य भारावनत शरीर-भार को वहन कर सकती है या नहीं? इन देवियों में दो साँवली, एक गोरी और चौथी तो एकदम सुफेद चमड़े की थी, बड़ा चमकता हुआ उसका रूप था। उन वृद्धा की दाहिनी ओर जो देवी थीं, वे कुछ वयस्का मालूम हो रही थीं, उनके नैनों पर जेन्टिलमैनी खूबसूरत फ्रेम का चश्मा चढ़ा था, और बगल से काढ़ी हुई माँग के मध्य भाग में सिन्दूर की एक बेहद बारीक लकीर जो सिर्फ आधी ही इञ्च लम्बी होकर समाप्त था—खिंची थी। अपने सौभाग्य का इतना क्षुद्र लघु रूप अपने मस्तक पर धारण किये, यह देवी जी बड़ी शान से अपने कदम मुबारक रख रही थीं। इनमें कुछ गम्भीरता थी, और रूआब भी। शेष तीनों युवतियाँ या किशोरियाँ लक्षणों से कुमारी ही जान पड़ती थीं। क्योंकि उनमें बड़ा चुलबुलापन था, और थी मुखड़े पर बाल-सुलभ चपलता। वे चलती जाती थीं और हँसती जाती थीं। इसमें शुबहा नहीं कि वे अपने हास्य पर विजय-प्राप्ति के हेतु पूर्णरूप से प्रयत्नशील थीं, पर उनकी अवस्था-योग्य अल्हड़ता उन्हें सफलीभूत

न होने देती थी। वे जितना भी जोर लगाकर अपनी हँसी को दबा रखने की चेष्टा करती थीं, उनकी वह हँसी उतनी ही ताकत से बलबला कर ज्वालामुखी की भाँति फूट पड़ती थी। बेचारी बड़े धर्म सङ्कट में थीं।

× × × ×

राधे बाबू, कृष्ण० बा० का पञ्जा जोर से चाँपते हुए बोले—"अरे—अरे—तनिक उसे—उस बीच वाली को—बग़ौर देख लो, देखो—देखो—तुम पहले उसे अच्छी तरह देख लो तो फिर बताऊँगा। देखते हो न?"

कृ०—उस गोरी-गोरी-सी पतली को न, जो मुँह पर रेशमी रूमाल दिये मुसकरा रही है। क्यों उसी को न?

रा०—हाँ—हाँ, उसी को—देखना भाई खूब गौर से देखना, कुछ भूल-चूक न हो, नहीं तो फिर जब सौन्दर्यालोचना होने लगेगी, बब तुम कह उठोगे, यह नहीं देखा, वह नहीं देखा, तो भारी कबाहट होगी।

कृ०—हाँ, हाँ, मैं खूब ध्यान से देख रहा हूँ। आप इत्मिनान रखें।

× × × ×

रा०—देख चुके न?

कृ०—हाँ!

रा०—खूब गौर से न?

कृ०—जी हाँ।

रा०—कुछ भूल-चूक तो नहीं हुई देखने में, सर से पाँव तक बग़ौर देख चुके न?

कृ०—हाँ, हाँ।

रा०—अच्छा अब बताओ उसमें क्या-क्या खूबियाँ हैं, और क्या-क्या ऐब हैं।

कु०—बेहद पतली है।

रा०—और—?

कु०—चाल में लोच नहीं है।

रा०—अच्छा और?

कु०—बड़ी नादान है।

रा०—यह भी ठीक। अच्छा और!

कु०—अपने को सँभाल रखने में असमर्थ है।

रा०—अच्छा यह भी सही। और—!

कु०—बड़ी चञ्चला है?

इस बार राधे बाबू कुछ झुँझला से पड़े और बोले—अरे तुम भी यार क्या ऊपर ही ऊपर उतरा रहे हो। पते की बात कुछ भी नहीं कहते। नादान है तो पतली है, चञ्चल है तो अल्हड़ है, अजी भला यह भी कोई सौन्दर्य की परख है। यह तो बाहरी चीजें हैं जो समय पर बदल जायेंगी। असल चीज तो मुखड़े और शरीर की बनावट ही है, जिसे सौन्दर्य कहते हैं। इसकी बाबत कुछ अपनी "ओपीनिअन" दो।

कु०—इसे तो आप ही बताएँ तो उत्तम हो।

राधे बाबू कुछ गम्भीर होकर बोले—"अच्छा तो सुनो मेरी राय। मुखड़ा आकर्षक तो जरूर है, पर उसका आकर्षण युवा-काल तक ही सीमित है, क्योंकि उसका "कट्" लुभावना नहीं है। आँखें बड़ी हैं जरूर, परन्तु उनमें मादकता नहीं है। नाक ज्यादा नोकदार नहीं है। गाल अच्छे हैं, पर उसकी लालिमा अपनी नहीं—रँगाई की है। होठ नीचे का कुछ मोटा और भद्दा है। दाँत सब एक से और एक साइज में नहीं हैं। ठुड्ढी किसी तरह अच्छी कही जा सकती है।

कमर सुन्दर है। शेष रहा पतलापन तो, वह खिला-पिलाकर स्थूल किया जा सकता है। ट्रेन करने से चालों में लोचदारी भी आ सकती है। अपने को सँभाल रखने की योग्यता भी आ सकती है पर इन चीजों की मरम्मत, इन त्रुटियों का संशोधन जो हमने बताया है—कभी नहीं हो सकता। क्यों?

राधे बाबू द्वारा अपनी सम्मतियों का इस प्रकार धज्जी-धज्जी उड़ती देख, कृष्णमोहन बाबू का अपने सहज सौन्दर्य-ज्ञान का मान भड़क उठा। वे कुछ दृढ़तापूर्वक तनक रुखाई से बोले—"आपकी इस राय से हम सहमत नहीं। क्योंकि मुखड़ा जब आकर्षक है तो उसका "कट्" क्यों न लुभावना होगा? जब तक किसी चीज़ की बनावट अच्छी न होगी तब तक वह आकर्षक होगा ही नहीं। आकर्षक का अर्थ ही है सौन्दर्य। बाकी रहा युवाकाल की समाप्ति के पश्चात् आकर्षण नष्ट होने का प्रश्न। तो मैं पूछता हूँ, उमर ढलने पर किसमें युवाकाल की वह सुन्दरता और आकर्षण रहता है? आँखें जब बड़ी होंगी, और वह भी एक युवती सुन्दरी के तो, मुमकिन नहीं कि उसमें मादकता न हो, आपने अवश्य देखने में भूल की है। नासिका की नोकदारी की कोई तारीफ नहीं, तारीफ उसकी सुघरता की है जो इस बाला में वर्तमान है। गाल सेव नहीं है, जो रंगे रंगाये पैदा होते हैं, हाँ उन्हें आप मलकर देखिए उसमें लालिमा आती है या नहीं। होठ प्रायः एक ही साइज के होते हैं, वे किसी बेवकूफ मिस्त्री के बनाये नहीं होते जो दोनों को दो तरह, और बेमेल बनाकर भोंड़ा कर दे। मेरी जान में यह किशोरी सर्वाङ्ग सुन्दरी है।"

राधे बाबू को यह स्वप्न में भी विश्वास न था कि कृष्ण मोहन मेरी बातों का इतने उग्ररूप से घोर प्रतिवाद करेगा। वे तो उसे बराबर अपना चेला भर समझा किये पर, आज शिष्य गुरु के सारे जाल-फांसों को विध्वंस कर बिलकुल अपनी स्वतन्त्र सत्ता

स्थापित करना चाहता है। राधे बाबू बेहद चिढ़कर बोले—"तुम्हारी ये सब बातें बिना सींग-पूँछ की हैं। तर्क की कड़ी कसौटी पर तिलमात्र भी नहीं टिक सकतीं। यदि तुम्हें हमारी बातों का विश्वास न हो तो, चलो, और स्वयं देख लो मेरी बातों की सत्यता, अपनी बातों की निस्सारिता।"

"हाँ, हाँ, चलिए।" बड़े तैश में कृष्ण मोहन बाबू बोल उठे।

सौन्दर्य के ये दोनों पगले पारखी, अपनी-अपनी दीवानी धुन में उसी ओर चल पड़े जहाँ वे देवियाँ एक छोटी झाड़ी के निकट बैठी परस्पर हास्य-विनोद कर रही थीं। उन बेचारियों को क्या पता था कि दो पगले हमारे रूप की आलोचना-प्रत्यालोचना में उलझ सर कटाने पर तैय्यार हैं। अस्तु, ये दोनों सौन्दर्य-पारखी उनके निकट ही कुछ दूर पर अड़े, आँखें फाड़-फाड़ कर उन्हें देखने लगे। उनके चेहरे पर एक अजीब हैरानी और परीशानी छाई हुई थी। उन्हें इस दशा में अपनी ओर एकटक आँखें भिड़ाए देखकर वे युवतियाँ कुछ घबराईं—"आख़िर इनकी नीयत क्या है? ये क्यों भूखे गिद्ध की तरह हमें इस व्याकुलता से देख रहे हैं, मानो चबा कर ही छोड़ेंगे।" वे गरीबन अपने दिलों में ये बातें सोच ही रही थीं कि राधे बाबू गर्ज-कर बोले—"क्यों देखा? है कुछ?"

कृष्ण मोहन बाबू उसी स्वर में दृढ़तापूर्वक बोले—"हाँ देखा, क्यों नहीं है कुछ?"

रा०—क्या है?

कृ०—सुन्दरता है और क्या है?

रा०—हिश्श्! तुम बेहूदे हो। बेवकूफ़ हो।

कृ०—हर्गिज़ नहीं। आप बहकिये मत, सिर्फ़ "सब्जेक्ट" पर बात कीजिए।

रा०—मैंने जो कहा—क्या उस गोरी छोकड़ी (उङ्गली से बता कर) में वह बातें नहीं है ?

कृ०—कभी नहीं ।

राधे बाबू की उङ्गली का संकेत अपनी ओर देखते ही वे झट ताड़ गईं कि ये दोनों पक्के शोहदे हैं, और इनकी नीयत खराब है । ताज्जुब नहीं कि ये बदमाश कुछ और शरारतें कर बैठें । उस वयस्का ने, लड़के से कहा—"जा पुलिस वाले को लिवा ला, कहना—"दो बदमाश हमारे घर की औरतों को बेहद बेढब तरीक़े से घूर रहे हैं, हमें शक है वे कुछ कर न बैठें । आप चलिए ।" लड़का उधर पुलिस को बुलाने दौड़ा । इधर औरतें भी कुछ सावधान हो गईं । उनकी हँसी-खुशी एक शंकामय भय में बदल गई और सब की सब गम्भीर हो गईं । मगर ये बेवकूफ अब भी आपस में उलझे ही थे ।

राधा मोहन ने फिर कहा—"मैं आज से समझ गया कि तुम बड़ी वाहियात ब्यूटी को पसन्द करते हो । तुम्हें कला-ज्ञान रञ्चमात्र भी नहीं है ।"

कृ—मैं भी समझ गया, आपको भी सौन्दर्य-ज्ञान नहीं, सिर्फ आप अपनी पसन्द की बात करते हैं ।

रा० बा०—तनिक जोर से—"तो इस खूबसूरत छोकड़ी को तुम्हारी राय में सौन्दर्य के सारे उपकरण प्राप्त हैं ?

कृ०—अवश्य ! आइये तनिक और निकट से निरखिये तो सब आप ही-आप खुलासा हो जाए ।

रा०—निकट दूर की क्या बात है ? हम तो निकट ही हैं, खैर चलो, चाहे जितना भी निकट से और खुर्दबीन लगाकर के ही क्यों न देखो, विजय मेरी ही होगी । लो बढ़ो ।

अब ये दोनों पारखी और आगे बढ़े । इन्हें इस तरह आगे बढ़ते देख, वे औरतें जिनका धीरज इनकी चित्र-विचित्र भावभंगियों को

देखकर पहले से ही छूट चुका था, बेतहाशा चीख उठीं। चिल्लाहट जो पार्क में गूँजी, लोग दौड़ पड़े। "क्या है! क्या है!!" सैकड़ों लोग पूछने लगे। उधर से पुलिसवाला भी लड़के के संग आ पहुँचा। वह वयस्का बोली—प्रायः आधे घन्टे से ये दोनों ही आदमी हमें परीशान कर रहे हैं। बार-बार हमें कड़ी नजरों से घूरते हैं, फिर न जाने आपस में क्या-क्या बातें करते हैं। हमें बार-बार यही सुन पड़ा—"सुन्दरी है! सुन्दरी है।" अब के ये लोग हमारी ओर दौड़े आ रहे थे कि हम चिल्ला पड़ीं।

इस वयस्का की बात सुनकर लोग बड़े कुपित हुए और उन्हें डाँटते हुए बोले—"क्यों जी तुम क्यों इन्हें आध घन्टे से घूर रहे थे? फिर इनकी ओर क्यों दौड़े? आख़रश तुम्हारी क्या नियत थी? ठीक बताओ नहीं तो अभी मारे घूसों-लात के तबाह कर दिये जाओगे बदमाश! तुम्हारी यह शरारत! शरीफ घर की औरतों को घन्टों से घूर रहे हो? साफ-साफ जवाब दो।

अब इन दोनों सौन्दर्य-पारखियों की सारी सौन्दर्य-मीमांसा हवा खाने चली गई। वे जबाब दें तो क्या? यदि कहें कि "हम इनका सौन्दर्यालोचन कर रहे थे—" तब भी बेभाव की पड़ती है, न जवाब दें तो भी पीटे जाएँ। "हाय-हाय" यह सौन्दर्य-ज्ञान बड़ा बेमौक़े दग़ा दे गया। घबड़ाई नज़रों से वे एक दूसरे को देख रहे थे। विकट समस्या थी।

—"क्यों जी तुम लोग बोलते क्यों नहीं? फौरन जवाव दो, नहीं तो अब मेरा हाथ छूटता है।" एक तगड़े से सज्जन ने डंडा तानकर कहा।

उस मोटे से डंडे को जब इन युगल सौन्दर्य-पारखियों ने अपने सर पर इन्द्र के वज्र तुल्य मँड़राते हुए देखा, तब समझ गये, अब चुप रहने से भी जान की खैर नहीं। राधे बाबू का कंठ खुला।

वे गिड़गिड़ाते हुए करबद्ध बोले—"श्रीमान् महाशय जी, हम चोर बदमाश नहीं, एक शरीफ़ औलाद और कॉलेज-स्टूडेन्ट हैं। हाँ हम इन्हें घूर जरूर रहे थे पर कोई बुरी नीयत से नहीं, सिर्फ़ हम दोनों साथियों में इस बात का झगड़ा था कि इन देवियों में सुन्दरी कौन है? बस इसी को आप जो समझें, हमारी बदमाशी या शराफ़त। कहिये हम गङ्गा उठावें।

वे दण्डधारी सज्जन बोले—"बेहूदों! यही क्या तुम्हारी कम शरारत है, इस सुन्दर-असुन्दर की परीक्षा के लिये तुम्हें भले घर की देवियाँ ही मिलीं? इन्हीं पर अपने सौन्दर्य-ज्ञान की आजमाइश करनी थी तुम्हें? छिः छिः! तुम कहते हो हम कॉलेज के विद्यार्थी हैं, भला विद्यार्थियों के यही कर्म हैं?" दोनों सौन्दर्य पारखी दम साधे चुप ज़मीन देखते खड़े थे और लोग इन सौन्दर्य पारखियों की बुद्धिमत्ता (?) पर खिलखिला कर हँस रहे थे। एक दूसरे सज्जन बोले—चाहे इनकी नीयत जैसी हो, मगर इन्होंने बदमाशी तो ज़रूर की, और इसके लिये इन्हें कुछ सज़ा देकर यह सबक़ दे देना चाहिये कि फिर कभी ये सौन्दर्य-परीक्षा का हौसला न करें।

कुछ लोग बोले—"जरूर-जरूर! सौन्दर्य-ज्ञान का इनाम तो मिलना ही चाहिये इन्हें।"

वे दण्डधारी बोले—"अच्छा जी तुम दोनों, अपने-अपने कान पकड़-पकड़ कर बीस-बीस बार उठो बैठो, और इन सब लोगों से हाथ जोड़कर क्षमा माँगो, और प्रतिज्ञा करो कि अब से फिर कभी भूल कर भी ऐसी मूर्खता न करेंगे।

"मरता क्या न करता" दोनों ही सज्जन कान पकड़-पकड़ कर उठक बैठक करने लगे। विचित्र दशा थी इन बेचारे सौन्दर्य पारखियों की। ख़ौफ़ से शकल घबराई हुई, शर्म से चेहरा सुर्ख़!

फिर भी बेचारे दनादन उठ-बैठ रहे थे। और लोग मारे हँसी के मरे जा रहे थे। वे देवियाँ भी रुमाल से मुँह ढाँके हँस रही थीं।

बैठक समाप्त होते ही दोनो डाकगाड़ी की तरह भगे। रास्ते में राधे बाबू ने कहा—"दोनों आदमियो का सौन्दर्य-पारखी होना ठीक नहीं, देखो यह दोनों के सौन्दर्य-पारखी होने का ही कुपरिणाम है कि आज सर रंगते-रंगते बचा। या तो तुम्हीं रहो "सौन्दर्य पारखी" या मुझी को रहने दो। तुम जो कहो उसे या तो मैं मान लूँ, या मैं जो कहूँ उसे तुम मान लो। बोलो ?

कृ०—हाँ ठीक है, आप ही रहिये "सौन्दर्य पारखी"। मैं तो इसका फल पा चुका।

१३

पत्नी-प्रपंच

"हे भगवान, दीनानाथ, दीनबन्धु! नर्क, जेल, सूली, सेल, लात-जूता, गरीबी, गुलामी, सब कबूल, सब मंजूर! पर हे कृपानिधान, पत्नी नामधारिणी सज्जनियों के ख़सम के खूँटे में मत बाँधो। हे महाप्रभो! और यदि तुम्हारी ऐसी ही अपरम्पार दया हो तो कम से कम प्रपंची पत्नि का "पति-दास" बनने का दुर्भाग्य न दो।"

क्या कहूँ, अपने बाप-माँ के शौक और उनकी इच्छाओं की बात! जब मैं लोअर प्राइमरी स्कूल के तीसरे दर्जे में पहुँचने को कर रहा था, तभी ये "बेटी वाले" अपनी-अपनी "बेटियों" से तंग आकर

अपना बवाल मेरे सर मढ़ने के लिये, मेरे घर पर भूखे गिद्ध की तरह मँड़राने लगे। जब पाठशाले से लौट कर आता तब देखता, दो-चार गिद्ध पंख फैलाए बैठे ही हैं, और ज्यों मैं सायबान में पहुँचता कि "सुनो बाबू" की पुकार होती। ये गिद्धगण मुझे चलाते थे, हिलाते थे, ऊपर-नीचे निहारते थे, फिर सवाल पूछते थे—क्या पढ़ते हो, "रामचन्द्र" का हिज्जे करो, एक पैसे का डेढ़ आम तो ढाई पैसे का कितना?" रोज़ ही यह तमाशा था। रोज ही "सुनो बाबू" की पुकार? रोज़ ही वही सवाल? इतने जल्द-जल्द तो हमारे बूढ़े गुरुजी भी सवाल नहीं पूछते थे। उन दिनों हमें यह क्या मालूम था ये गिद्ध मुझे अपना भोजन बनाने की चिन्ता में मेरे घर आया करते थे। मैं तो यही समझता था कि ये सब किसी मदरसे के निकाले हुए गुरु हैं या "सर्किल पंडित" जो हमसे सवाल पूछ-पूछ कर अपनी हवस बुझाने रोज़मर्रा हमारे घर आया करते हैं। मेरे बाबूजी भी उस समय बैठे होते और मुस्कराते होते। मैं इनके सवालों का जल्दी-जल्दी जवाब देकर घर के अन्दर भागता। फिर बड़ी देर तक ये पिताजी से जानें क्या बकबक लगाये रहते।

एक दिन सुना, मेरी शादी होगी, शादी क्या बला है, मैं तनिक भी इससे वाकिफ न था। अच्छे-अच्छे कपड़े मुझे पहराये गये, बड़े सुन्दर-सुन्दर मूल्यवान गहनों से मैं सजाया गया, और बादशाह की तरह एक ख़ूबसूरत तंज़ाम पर बिठाकर चँवर डुलाते मुझे लोग ले गये। मैं मण्डप में बैठा, मेरी बगल में मेरी पत्नी देवी भी कपड़ों में गठरी की तरह बँधी बैठी थीं, दूसरी ओर दाहिनी तरफ पुरोहित जी महाराज बैठे-बैठे कुछ बड़बड़ा रहे थे। उन्होंने अपने सामने रखे पत्तल से भींगा हुआ थोड़ा चावल, गुड़ और दही निकाल कर मेरे हाथों पर रख दिया, मैंने समझा यह प्रसाद है क्योंकि मेरे पाठशाले में प्रति "परिवा-तिथि" को इसी प्रकार चावल गुड़ के प्रसाद बँटते

थे, मैंने शीघ्र ही उसे मुख में झोंक दिया। सब लोग ठठाकर हँस पड़े, बाबूजी ने भी हँसते ही हँसते कहा—अरे उसे खा गये ? बेवक़ूफ़ वह प्रसाद थोड़े था ? वह तो पूजा के लिये था, अब से न खाना समझे ? उसे सामने "कलस" पर छोड़ते जाना।

× × × ×

यह घटना मेरे आज के इस जीवन से, लगभग १५।२० साल पहले की है। पिता-माता अपने-अपने अरमान पूरे कर चले गये वहाँ, जहाँ से न तो कोई फिर लौटकर ही आता है और न पत्र व्यवहार रखने के लिये किसी डाकखाने का ही प्रबन्ध है। उनके उस अरमान का परिणाम अब मुझे चारों हाथ भोगना पड़ रहा है। घर का सारा आधिपत्य हमारी पत्नी जी महामहोदया के हाथों है, और मैं एक अहो-रात खटनेवाला कोल्हू का बैल हूँ, पर हायरी क़िस्मत ! मेरी हस्ती, मेरा मान, मेरी प्रतिष्ठा उस अभागे कोल्हू के बैल के भी बराबर नहीं है। पाँच पतियों की प्राणाधार पत्नी और भारत की सम्राज्ञी होकर भी द्रौपदी बेचारी में उतनी अँकड़, ऐसी ऐंठ न होगी, जितना हमारी देवीजी काठ के दो बाक्सों को देख, फूलकर गोबर हुई जा रही थीं। रोज ही नये आर्डर ! रोज ही नये फर्मान !! बापरे इतने "अर्डीनेन्स" हिज एक्सोलेन्सी लेट भाई लाल-विल्ली टङ्ग बहादुर ने भी न निकाला होगा। मैं क्या, किसी भी बुद्धिमान को उनके अद्भुत खोपड़े का पता नहीं लग सकता। वे तो भारत की "वायसराइन" और "होम मेम्ब-राइन" बनाने के लायक हैं। जो-जो जौहर, जैसी-जैसी करामात-पाल-टिक्स उनकी खोपड़ी दिखलाती है कि बड़े-बड़े दिग्गज पॉलीटिशियन सर धुनें। हम तो उनकी इस घोर महायोग्यता के सर से पाँव तक कायल हैं।

× × × ×

हमारी एक बहिन थी, बड़ी गरीब मिजाज, बड़ी नम्र, बड़ी

दयालु और सहिष्णु। मेरी महाराणी को इस गरीब अनाथिनी से "इन्द्र-बलि" का बैर था। आप उसकी सूरत तक देखने को तैय्यार न थीं। मगर मैं उसे कैसे छोड़ता, वह मेरी बहन थी, सहोदरा थी और दुखी थी। उसके बाप-माँ न थे, अब तो पिता या माता उस गरीबिन के लिये केवल मात्र एक मैं ही था। उसने कई बार चिट्ठियाँ लिखीं—"भईया मुझे लिवा चलो।" मगर मैं श्रीमती के भय प्रपंच-वश बराबर टालता रहा। पर कब तक टालता, एक दिन उसकी आर्त्त पुकार दिल छू गई। उठा, और चटपट उसे लिये दिये घर चला आया। श्रीमतीजी उस समय तो कुछ न बोलीं, पर दिन-दिन उनकी नाक पावरोटी की नाईं फूलती जा रही थी। हमेशा वह प्रलय घनघटा की भाँति गुरु गम्भीर रहने लगीं। इसपर मेरी उस सरल हृदया बहन ने एक दिन उनके सामने ही मुझसे सोने के 'कर्णफूल' की याचना कर उस प्रचंड मेघमाला में एक तूफान पैदा कर दिया। वे झनक कर अपनी गोद के बच्चे पर अपना सारा गुस्सा उतारते हुये उठ गईं। मैं तो ताड़ गया। चर्खी में आग बेमौके लगी, परन्तु इस बात की खबर मेरी उस सरला बहन को क्या थी? वह अपनी रट रटती ही रही। मैंने उसे संकेत किया—अभी चुप रह, तू जो चाहती है वही होगा।

\+ + + +

"क्यों बहन को सोने का "कर्णफूल" दोगे? दैय्यारे, जो आता है मेरे घर वह हाथ पसारे ही आता है, जैसे मेरे ही घर में सारे संसार की सम्पत्ति गड़ी है। भला इनकी माँग तो सुनो। कर्णफूल, और वह भी सोने का? बापरे बाप! यह डेढ़-पौने दो सौ रुपये की चपत? कहती थी मेरे घर किसी के आने-जाने की जरूरत नहीं पर, ऐंठे हुये गये और कपार पर यह बला लाकर रख दी? अब लाओ सोने का कर्णफूल, दो बहन को।" रात में जब हम महाराणी जी के

ही कमरे में पड़े थे, वे बड़बड़ा गईं। मैं उन्हें तोष देता बोला—"अरे मेरी इतनी औकात कहाँ जो किसी को चाँदी सोने के गहने देता चलूँ, यहाँ तो ताँबे-काँसे तक का ठिकाना नहीं है। बहन है माँगना उसका काम है, पर उसके माँगने से मैं दे थोड़े ही दूँगा? आप शान्तिपूर्वक बिल्कुल निश्चिन्त हो सोयें, आपके घर का एक ठीकरा तक टस से मस न होगा।"

—"हाँ, वही आपको कह दिया कि हमारी इतनी बूत नहीं जो हम किसी को सोना-चाँदी देती फिरें। अभी खुद हमें अपनी दो-दो लड़कियों का व्याह करना है। आप तो औलिया फकीर हैं, शायद झोंका आ गया और जैसे जोश में जाकर यह बवाल उठा लाये, वैसे ही गहनों को भी उठाकर न दे दें।"

मैं उन्हें ढाढ़स देता हुआ बोला—अजी राम कहो, क्या तुमने मुझे कोई बिल्कुल घास छीलनेवाला ही समझ रखा है? क्या मुझे अपने भले-बुरे का ज्ञान नहीं? लिवा तो मैं इसलिये लाया कि बहन है, उसके बाप-माँ नहीं हैं, यह गाँव उसकी जन्मभूमि है, चलो मास-दो मास रहेगी, जरा घूम-फिर कर अपनी सखी सहेलियों से भेंट मुलाकात करके फिर, अपने घर चली जायगी। न बुलाने से गाँववाले भी तो निन्दा करेंगे। वे कुछ नर्मी से बोलीं—खैर लिवा लाये तो अच्छा ही किया, पर कुछ दे न डालना बहिन के प्रेम में उतावले होकर, नहीं तो मुझे जानते हो न, फिर नाक पकड़ के न रुला मारी तो कहना! मैं समझ रही हूँ आज बड़ी मीठी-मीठी बातें कर रहे हो। उन खुशामदी और नर्म बातों की तह में जो धोखा-धड़ी काम कर रही है, यह न समझना मैं उसे नहीं भाँपती। अजी ऐसा गोबर-गनेश मैं रहती तो जैसे तुम्हारे लच्छन हैं, आज भर पेट अन्न भी मुहाल होता।

मैं उनका समर्थन करता हुआ बोला—भला इसमें कौन भकुवा

सन्देह करेगा, आप हमारे घर की साक्षात् लक्ष्मी हैं, और बुद्धि का तो सारा भंडार ही ब्रह्माजी ने आपके दिमाग में ठूस दिया है। मैं तो आपको "बुद्धिराशि सकलगुण सदन" का अवतार ही समझता हूँ। मेरा ख्याल है यदि आप मुल्क हिन्दुस्तान की "लाटिन" बना दी जातीं तो यह सारे असहयोग-फसहयोग, सत्याग्रह का बवाल क्षणों में, चुटकियों पर आप उड़ा देतीं।"

—देखो, मुझे छेड़ो मत, मेरा दिमाग अभी दुरुस्त नहीं है, जब से "कर्णफूल" की बात मैंने सुनी है तभी से दिमाग में जैसे आग लगी है, उसे उकसा-उकसा कर लहराओ मत। तुम्हारी यह तफरीह मुझे तनक भी नहीं सुहाती। भले आदमी की तरह कल अपने बहनोई को पत्र लिख दो, वे आकर अपनी लुगाई को लिवा जायँ वर्ना वह काण्ड मचाऊँगी कि दाना-पानी भी मुहाल हो जायगा। मैंने मजाक के ही लेहजों में कहा—अगर आग कुछ ज्यादा लहर गई हो तो आप कृपाकर "जल-कल" के पास चलने का कष्ट करें फौरन बुझ जाएगी, और शायद और भी अधिक उग्र हो गई हो और तकलीफ बहुत ज्यादा हो तो कहिये "दमकल" वालों को खबर करूँ।

"न मानोगे तुम?" वे झुझलाकर ऊबती सी बोलीं—"कहती हूँ तुम्हारे ये मजाक मुझे अच्छे नहीं लगते। कहो कल चिट्ठी लिखते हो?"

—हाँ, हाँ, जरूर-जरूर, भला आपकी हुक्म-अदूली!

—"अच्छा आज खूब तफरीह के मजे उठा लो फिर तो रोना ही है तुम्हें!"

—फिर क्या, यदि आप मेरे रोने पर ही प्रसन्न हैं तो कहिये अभी दाढ़ें मार-मार कर रो लूँ, क्योंकि आप मेरे घर की लक्ष्मी हैं, आप जिसमें प्रसन्न-सन्तुष्ट रहें, उसे करना तो मेरा कर्त्तव्य ही है।

—अच्छा तुम मेरे कमरे से बाहर जाकर सोओ। बोलो जाते हो या मैं ही चली जाऊँ।

—"ना—ना—ना—" मैं तनिक बनावटी व्याकुलता से बोला— "आप क्यों कष्ट करेंगी, आपका यह आज्ञाकारी दास स्वयं जाता है।"

—"अच्छा-अच्छा खूब बना लो आज, पर इसे भूल न जाना।"

मैं हँसता हुआ बाहर चला आया, और वे एक विकट हुङ्कार छोड़तीं, प्रतिशोध भावना से व्याकुल-सी हो सो रहीं।

× × × ×

इस वार्तालाप के सप्ताह भर बाद ही, हमारी बहन अपनी ससुराल चली गईं। मैंने स्वयं पत्र लिखकर बहनोई को बुलाया और बहन को विदा कर दिया। उसे 'कर्णफूल' इत्यादि कुछ न मिला। ओह! उस दिन हमारी महाराणी कितना प्रसन्न, कितना गद्‌गद् थीं जैसे उन्हें अयोध्या का राज्य मिला। वे मुझसे अब गुड़-चिऊँटे की तरह लिपट गईं उनके अनुराग और विश्वास का फाटक जो मेरे लिये अनन्त काल के हेतु बन्द था, बिल्कुल दो पट्टा, दो तरफ खुल गया। अब वे मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार तथा अपने से भी ज्यादा मुझपर विश्वास करने लगीं। मेरा मान बढ़ा, मेरी प्रतिष्ठा बढ़ी और सबसे खुशी की बात हुई कि अब मेरी भी गणना दुनियाँ के बुद्धिमान पुरुषों में होने लगी। बल्कि एक दिन तो मेरी गृह देवी जी महोदया ने बड़ी भावुकता एवं प्रसन्नतापूर्वक यहाँ तक कह डाला—"तुम दुनियाँ के गिने चुने बुद्धिमान पुरुषों में हो।" धन्यभाग! "हम भी बुद्धिमान हैं, और संसार के गिने-गुथे लोगों में—?" हमारे जीवन की यह सर्व-प्रथम सुघड़ी थी, जो उनके श्रीमुख से मुझे यह बुद्धिमत्ता की "सर्टि-फिकेट" नसीब हुई। कृतज्ञता के महाभार से दबा-पिसा एक नेक आदमी की तरह मैंने उनकी इस उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा की, उनका आभार माना—"अहा! धन्य हैं आप, और महाधन्य है

आपका घोर उदार हृदय ! जो मुझ जैसे—दुनियाँ भर में एक ही गये बीते आदमी को "बुद्धिमान" की सनद सरफराज फरमाया। जय हो, आपकी सदा जय हो।" मैंने हर तरह से उनके इस कृपा-प्रदान के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना मुनासिब समझा, और करबद्ध हो झटपट एक वन्दना मैं गा उठा—

"जय आदि भवानी, सुर कल्यानी, सब गुन खानि 'बामा' जी।"
तोहि को सब ध्यावै, पार न पावै, जग गुन गावै "श्यामा" जी॥
तेरी माया, जगत रचाया, सब ही सुलाया "घामा" जी।
शिव ब्रह्मादिक, और इन्द्रादिक, जपते तुम्हारे नामा जी॥
जय जय जग देवी, सुर-नर सेवी, धन तुम्हारे "हृद्धामा" जी।
तुम भई दयाला, हुए निहाला, सफल भये सब "कामा" जी॥"

वे प्रेम विभोर नेत्रों से मुझे निहारती हुई बोलीं—"तुम बड़े बातूनी हुए जा रहे हो जी!" फिर वे अपनी अण्डाकार आँखों से "सोम-रस" का भरा घड़ा उड़ेलते हुए रसोई घर में भाग गईं।

× × × ×

कुछ महीनों के बाद मैंने एक दिन उनसे कहा—क्या बताऊँ पौने चार सौ रुपये का एक सोने का "हार" सिर्फ डेढ़ सौ रुपये के लिये चला जा रहा है।"

वे सो रही थीं। तमक कर उठीं और बड़ी अधीरतापूर्वक बोलीं—कैसा हार ? कहाँ है ? जो पौने चार सौ की चीज डेढ़ सौ रुपए में जा रही है।

—यही बेचारे विनोद बाबू जो हमारे पड़ोसी हैं, उनका एक गाँव नीलाम पर चढ़ गया है, बेचारे गर्ज के मारे अपनी बीबी के चार सौ रु० का हार डेढ़ सौ में बेंच रहे हैं, कल हमसे भी कह रहे थे—"मिश्र जी तुम यह ले लो, खास "लेडला" कम्पनी का तैय्यार

किया हुआ माल है, अगर तुम्हारे यहाँ चीज रहेगी तो मुझे उतना अफसोस न होगा—"

"तब–तब—!! तुमने क्या कहा?"—महारानी जी साँस रोके अधीरतापूर्वक बोल गईं।

मैं बड़ी शान्ति से गम्भीर मुद्रा बनाये बोला—मैं क्या कहता, मेरे पास रुपए-पैसे थोड़े हैं—

—"तो–तो–तो—उन्होंने वह "हार" कहीं और जगह बेंच दिया क्या?" वे फिर घबराई हुई आवाज में बोलीं।

"सो तो मुझे पता नहीं।"—मैं उसी प्रकार शान्त गम्भीर बने उत्तर देता गया।

—धन्य हो तुम! तुम्हारी इसी बुद्धि के कारण कभी-कभी मुझे झिझक चढ़ आती है, मुहल्ले का माल इतने सस्ते में दूसरी जगह चला जाता है, पर तुम्हें उसे लेते पार नहीं लगता।

—भाई मेरे पास रुपए-पैसे हैं थोड़े, "सूत न कपास, जुलाहे से लट्ठम्-लट्ठा" करने की मूर्खता कौन करने जाए।

—मुझसे भी तो कहते!

—हाँ, यह भूल मुझसे अलबत्ता हो गई।

—तो हार उनका बिक गया?

—पता नहीं।

—मेहरबानी करके कल जरा सवेरे उठना और उनसे मिलना, यदि वह 'हार' न बिका हो तो उसे जाँच-समझ कर ले लेना, रुपए मैं दूँगी। ऐसी चीज हर समय न मिलती है न बनती है।

मैंने कहा—अच्छा।

चार ही बजे उन्होंने मुझे जगा दिया। मैं विनोद बाबू के पास पहुँचा "हार" लिया और चला आया। श्रीमती "हार" देखकर बाँसो

उछल पड़ीं, फिर उन्होंने मेरी तारीफ की, टोकरों मुझे धन्यवाद दिया, फिर रुपए लाकर गिन दिये।

× × × ×

इस घटना के कुल डेढ़ महीने बाद। एक दिन एकाएक रात्रि में जब मेरी आँखें खुलीं तो देखता क्या हूँ, चार काली मूर्त्तियाँ नगोट कसे हाथों में नङ्गी तलवार लिये मेरे रूम में खड़ी हैं और उस घोर अन्धकार में इनकी तलवारें चमक-चमक कर अपनी नृशंसता का परिचय दे रही हैं। मैं चीख पड़ा—"बाप रे—डा-डा-कू-कू ऊ-ऊ-ऊ" तबतक एक ने अपनी तलवार की नोक मेरे कण्ठ में छुलाते हुए कहा—चुप! बिलकुल चुप रहो!! एक शब्द भी निकाला कि तलवार को अपने कण्ठ के पार समझो।"

मैं मारे भय के चादर तानकर पड़ रहा कि फिर एक दूसरे ने मुझे झकझोरते हुए कहा—"अबे सोता क्यों है, क्या हम तेरे गुलाम बन-कर आये हैं. बता सब माल-टाल कहाँ है? तुम्हारी बीबी कहाँ है?"

बीबी का नाम सुनते ही तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। बाप रे ये चाण्डाल बीबी का पता क्यों पूछ रहे हैं, क्या माल-मता के साथ उन्हें भी घसीट ले जाएँगे। आह! जैसे मैं कट मरा, बड़ी विकलतापूर्वक दौड़कर उसके पैरों पर अपना माथा पटक कर दोनों हाथों से उनके पाँव पकड़े बोला—"दोहाई सरकार की, चाहे धन माल तो क्या सारे कपड़े-लत्ते ईंट पत्थर सब उठाकर ले जाओ, पर मेरी आबरू मत बिगाड़ो दादा। मेरी जोरू को न ले जाओ, हम ब्राह्मण हैं, बहुत असीस देंगे।" फिर मैं बलक-बलक कर रोने लगा।

परन्तु ये पिशाच हमारे धन-माल के साथ ही हमारी स्त्री और बच्चों को भी घसीटे ले गये और हमारी इन आँखों के सामने ही। मुझे ओसारे के खम्भे से बाँधकर मेरे मुख में कपड़े ठूँस दिये। मैं भीतर ही भीतर "गों-गों" करता रहा, कुछ बस न चला।

सुबह कुछ लोग मेरे घर आये। मुझे खोला। रात की सारी दुर्घटनाएँ मैंने रो-रोकर उन्हें सुनाई। हाय! हाय!! सारे घर में जैसे "भूत" लोट रहा था, जिसकी असह्य उदासीनता और व्यथामय सूनापन मेरे कलेजे में जैसे भाले घुसेड़ रहा था। दौड़ता हुआ मैं अपनी पत्नी के शयनगृह में गया और वहाँ का दृश्य देखकर मैं छाती पीट-पीट कर रोने चिल्लाने लगा। रुपए और जेवरों के सारे बक्स खुले पड़े थे, उसमें एक छदाम तक न था। हाँ नीचे ज़मीन में वह विनोद बाबू वाला "हार" गिरा था, जिसमें काग़ज़ का एक पुर्जा बँधा था। दौड़कर मैंने उसे उठा लिया, चटपट उस पुर्ज़े को खोलकर पढ़ा, लिखा था—"तुम्हारी परवरिश के लिये हम तुम्हारा यह पौने चार सौ का हार छोड़े जा रहे हैं, इसी को बेच-बेच कर खाना। शमशेर-जंग, डाकू सरदार।"

कुछ लोग मुझे भीतर से बाहर ओसारे में लाकर बोले—अब औरतों की तरह सिर्फ रोने से काम नहीं चलेगा, जो मुनासिब कार्रवाई हो सो करो, अभी ज्यादा वक्त नहीं गया है, डाकू तुरंत पड़क जाएँगे।

मैं तो मारे शोक के पागल हो गया था। बोला—कहिये मैं क्या करूँ, ऐसी विपत्ति मुझपर कभी नहीं आई थी। मेरी तो अक्ल इस समय कुछ भी काम नहीं करती।

वे लोग—अक्ल की क्या बात है, थाने जाकर 'रपट' लिखाओ। देश-विदेश में हुलिया कराओ, पुलिस आप ही सब ढूँढ़ निकालेगी।

—ऐं पुलिस ढूँढ़ निकालेगी? आपको ऐसा विश्वास है?" बड़ी आर्त्तवाणी में, अधीरतापूर्वक मैंने पूछा—

—हाँ, हाँ, पहले तुम 'रपट' तो लिखाओ।

जब हम थाने चलने को तैय्यार हुए तो विनोद बाबू ने कहा—थाने चलने से पहले भला हो तुम अपनी पत्नी का पता एक बार उनके पीहर में भी लगा लो। तुम जानते ही हो वह कितनी बड़ी

भयाविनी हैं। हमें जहाँ तक मालूम है तुम्हारे "हार" वाले कौशल को वे जान गई हैं और तुमसे उसका बुरी तरह बदला लेने की प्रेरणा से ही उन्होंने इतना बड़ा विराट प्रपंच रचा है।

मैंने कहा—नहीं विनोद बाबू! "हार" वाली बात उन्हें कुछ भी मालूम नहीं है, और अगर हो भी तो वे ऐसा विकट पाखंड कभी नहीं रच सकतीं जिससे जान-माल दोनों का ख़तरा हो।

विनोद बाबू जोर देकर बोले—"उनके लिये कुछ असम्भव मत समझो, मैं जो कहता हूँ उसमें बिना अपनी बुद्धि भिड़ाये मान जाओ।

मैं विनोद बाबू की इस दृढ़ता पर कुछ शान्त-सा बोला—क्यों आपको इस विषय में कुछ जानकारी है?

वे बोले—अब मुझसे सारी बातें खोलवाकर मुझे भी बदनाम मत कराओ, तुम मित्र हो, तुम्हारी बेकली मुझसे देखी न गई, तुम्हें जरा हिन्ट (एशारा) दे दिया, फिर जो जी में आये करो।

अब जरा मेरे दम में दम आया, उनके दोनों हाथों को पकड़कर मैंने बड़ी व्याकुलता से पूछा—अच्छा इतना तो बताइये, इस समय वे कहाँ मिलेंगी।

वे—यह सब मैं कुछ नहीं जानता, मुझे तङ्ग न करो, मैने कह दिया, पहले उन्हें उनके मायके में ढूँढ़ लो, अगर वह वहाँ न मिलें तो "रिपोर्ट" करते रहना।

मैं—तो मैं जाऊँ?

वे—अवश्य! पर सावधान भाई, हमारा जिक्र न करना।

× × × ×

उसी दिन शाम को मैं अपनी सुसराल पहुँचा। बाहरी बैठक में ससुर जी बैठे खैनी फाँक रहे थे। ताक़ पर एक "कुप्पी" जल रही

थी। मैंने उनके चरण छूकर प्रणाम किया। वे बोले—कौन ? बाबू। कहो कैसे चले, प्रसन्न तो हो ?

—हाँ, सब आनन्द ही है, आपकी कृपा से।" मैंने यहाँ सारी बातें चटपट खोल देना उचित नहीं समझा। सोचा, जब वह यहीं पर हैं तो सब बातें बताकर बेवकूफ कौन बने।

रात्रि में भोजन करने भीतर गया। मेरी सास बैठी थीं, साली थाल परोस रही थीं और मैं आतुरतापूर्वक चारो ओर आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। परन्तु मुझे कहीं भी उनके आगमन का पता तक न मिला। और तो और, तनिक मेरे लड़के भी तो शोर-गुल मचाते! मगर कहीं किसी का कुछ भी पता नहीं। अब धीरज ने मेरा साथ छोड़ दिया और मैं एकाएक चिल्लाकर रो पड़ा।—"हाँ-हाँ!! क्या है ? क्या है ?? क्यों! क्यों!! बाबू, क्यों सहसा रो पड़े ?" सब के सब बोल उठे, बाहर से ससुर जी भी दौड़े आये।—"क्या बात है! क्या बात है!!" की पुकार पर पुकार मचने लगी। आखिर मैं रोता-रोता अपनी सारी कष्ट कथा गा गया। ससुर जी तो बाहर चले गये और सास जी भी गुम-सुम ही बनी बैठी रहीं, किन्तु हमारी साली साहबा अपनी हँसी न रोक सकीं। वे हँसती-हँसती बोलीं—तो फिर रोते क्यों हैं ? मजा कीजिए, बूढ़ी-ठूँठी बच्चों वाली बीबी को डाकू उठा ले गये, अच्छा ही किया आपको एक झंझट से उबार लिया। अब अपनी जवान बहन को घर में लाइये और वह पौने चार सौ रुपए वाला "हार" पहनाकर रात दिन उनकी शोभा निरखते रहिये। आपको तो अपनी जोरू से नहीं बहन से काम है।

अब सारी बातें मेरी समझ में आ गई। जो-जो प्रपञ्च रचे गये थे। विनोद बाबू का कहना सब सच निकला। बाप रे बाप! इतना प्रचण्ड-प्रपञ्च! ऐसी अगम अबोध माया ?

—"चलिए-चलिए खाइये, बीबी के लिये इतना बेहाल मत

बनिये।" मेरा हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचती हुई मेरी साली साहेबा ने कहा।

× × × ×

रात्रि में जब मैं अपनी महाराणी के शयनागार में पहुँचा तो वे तमाचे की तरह एक पोस्टकार्ड मेरे मुँह पर फेंकती हुई बोलीं—"तुम्हारी यह करतूत! यह माया! और हमीं से? कहो अपने प्रपञ्च का कैसा स्वाद मिला!

मैंने देखा वह पोस्टकार्ड मेरी भोली बहन का भेजा हुआ था जिसमें उसने लिखा था—"भइया जी को मालूम कि आपका भेजा हुआ एक जोड़ा सोने का "कर्णफूल" मिला, मैं बहुत प्रसन्न हुई। भगवान आपको दूध-पूत से बनाए रखें।"

मेरे पत्र पढ़ने के बाद उन्होंने कहा—मुझे पीतल का "हार" देकर मेरे १५०) रु० ठग ले गये और उसी रु० का बहन को सोने का कर्णफूल पठा दिया! वाहरी तुम्हारी गाया? जिस दिन यह चिट्ठी मिली मैं उसी दिन विनोद बाबू के घर गई, उनकी स्त्री से मिली और उन्होंने तुम्हारी सारी कलई खोल दी। फिर नैहर से अपने नौकरों को बुलवाया, उन्हें विनोद बाबू के ही घर टहराया और इसके बाद जो हुआ उसके फल भोग ही चुके हो। कहो अब फिर भी फरेब करने का हौसला रखते हो? माया की माता, फरेब की बहन और प्रपञ्च की पण्डिता तो हम लोग हैं और आप (?) हमीं से उड़ने लगे! कहिये कैसा नाक पकड़ रोते रहे! मैं जानती हूँ तुम्हें विनोद बाबू ने ही यहाँ भेजा होगा। मैंने उनकी स्त्री से कह भी दिया था, जब देखिएगा मामला सङ्गीन हुआ जा रहा है तो विनोद बाबू से जरा सङ्केत दिलवा दीजिएगा। कहिये अब मिजाज ठिकाने आया?

फिर खेलिएगा चौसर हमसे ? भले आदमी की तरह हमारे १५०) रु० लाकर अभी रख दो नहीं तो अभी और परीशान करूँगी।

मैंने करबद्ध खड़े होकर कहा—

क्षमा, हे महादेवी जी, आपके इस दास ने जैसा किया वैसा पाया, अब फिर ऐसा कुकर्म करने के लिये कान पकड़ कर तौबा करता है। कहिये उठक-बैठक करूँ, अपने इस महा-अपराध के लिये। रुपए हम पाताल खोदकर भी श्री चरणों में समर्पित करेंगे। और हे देवी जी, अब ऐसा प्रपञ्च न रचिए नहीं तो आपका यह दुर्बल दास बिना मौत मर जाएगा। त्राहि देवी! त्राहिमाम्! त्राहिमाम्!! दास को अभय करो, हे प्रचण्ड महारानी!

—फिर मजाक! अभी दिल पूरा न हुआ? रोना भूल गये?

—जी-जी जी—नहीं-नहीं कहिये फिर रोने लग जाऊँ, पर रोने के बाद आदमी हँसता भी है, इसीलिये थोड़ा हँसने की मैंने कोशिश की।

आओ-आओ बैठो, खड़े क्यों हो? क्या कहूँ उस समय तो गुस्से में मैंने यह सब कर डाला फिर मुझे बड़ी दया आई। माफ करो।

मैंने कहा—धन्य हैं आप, और धन्य हैं आपके प्रपञ्च!